ये कल्पनाएं मनुष्यों के स्वभाव और कार्य से सम्बन्ध रखती हैं, जो स्वभाव और कार्य केवल अपने आन्तरिक उत्पत्तिस्थानही के नहीं वरं उन बाहरी वस्तुओं के भी आश्रित रहते हैं जिनके सम्बन्ध में वे कार्य किये जाते हैं। मनुष्य के प्रत्येक कर्तव्यकर्म भी अवश्यही उसकी अवस्था और नियमों के अनुसार होते हैं। किसी विषय में मनुष्य का यथोचित मार्ग तथा उसके प्रकृति और सांसारिक भाग को (अर्थात् जिस अवस्था में इस संसार में वह ईश्वर से स्थापित किया गया है) इन दोनों को विवेचना करके नियत करना चाहिये। अतएव यह स्पष्ट है कि कर्तव्या कर्तव्य-शास्त्र आन्तरिक जांच के बाहर आवे और यह निश्चय करे कि वे पदार्थ कौन हैं जिन के सामने मनुष्य सदा रहता है, फिर उनसे क्या सम्बन्ध रखता है, और उनके संग इसका कैसा वर्ताव है ?

'संसार' और 'ईश्वर'—येही दोनों मनुष्य के चारों ओर सदा रहते हैं। 'संसार' से 'समस्त प्रत्यक्ष या इन्द्रियगोचर इन्द्रिय-विषय' समझना चाहिये, और 'ईश्वर' से 'निरन्तरस्थायी तत्व और कारण जिसकी मूलवस्तु (या सार) को वे प्रत्यक्ष इन्द्रियविषय प्रकाश करते हैं। ये दोनों ऐसे संगी हैं कि जिनको कभी कोई छोड़ ही नहीं सकता, चाहे वह कितना ही अपने स्थान, समय और समाज को बदले क्योंकि उसके चलने के पथ और देखने के स्थान में वे भरे रहते हैं। वे क्या हैं और उससे क्या नाता रखते हैं ये दोनों प्रश्न इस बात के निश्चय करने में भी अवश्य आते हैं कि उसको कैसा होना चाहिये। अतएव चाहे इन में से किसी को पहिले उठाइये पर जांच तीनों ही की एक दूसरे के सम्बन्ध में करनी होगी। परन्तु इस से बड़ा भारी भेद हो जाता है। यदि आप पहिले संसार और ईश्वर ही की खोज से आरम्भ करें तो इनके बारे में जैसा अनुभव होगा

उसीको विश्वासयोग्य मान कर अन्त में उसीके सदृश आप मनुष्य के मन को व्याख्या भी करेंगे। पर, यदि आप पहिले मनुष्य के मन से प्रारम्भ करें तो, इस भाव से कि यह अधिक जानता है, आप उनके बारे में आत्मा (या मन) की कही हुई बातों का विश्वास करेंगे और न कि आत्मा के बारे में उन की कही हुई बातों का। भेद यह है कि जब "आत्मानुभव" को मुख्य देववाणी मानते हैं तो एक को दूसरे से बढ़कर मानने की एक स्वच्छन्द योग्यता (वा शक्ति) का मनुष्यों में विश्वास होता है और वह हर वस्तुओं के गठन ढांचा में भी देखी जाती है। पर जब बाहरी ही वस्तुओं से पहिले जिज्ञासा करते हैं तो ऐसी शक्ति को जानने का कोई, उपायही नहीं मिलता वरञ्च यह सभी वस्तु में आवश्यकीय परिणाम का प्रवाह (या परंपरा) दिखलाकर मानुषिक आत्मा में भी उसी रीति का प्रकाशन समझने को हमलोगों के चित्त को लोभाता है। पहिले में, "प्रकृति [जगत] की इच्छा-विषयक युक्ति," और दूसरे, में "इच्छा को प्राकृतिक युक्ति" पाई जाती है। यह कर्तव्याकर्तव्य शास्त्र दोनों ही पथ ग्रहण कर सकता है चाहे सदसदाचार सम्बन्धी-बोध से निकलकर जगत की कल्पना (या क्रम) में जाय, चाहे जगत के क्रम से निकल कर सदसदाचारसम्बन्धी बोध में पहुंचे। पहिला क्रम "अध्यात्मिक" और दूसरा "अन-ध्यात्मिक" कहा जायगा। इस पुस्तक में पहिलेही का व्याख्यान लिखा गया है, क्योंकि यही शुद्ध मार्ग है और इसीसे यथार्थता का ज्ञान हो सकता है॥

अवाध्योपक्रम।

इस सदसद्विचार शास्त्र का मुख्य विषय 'ऋत' (या 'स्व-धर्म') है, अर्थात् भार निर्बन्ध या कोई विषय जो कि अवश्य होना 'चाहिये'। अब इस भार या निर्बन्ध का आरोपण करने वाला या देने वाला भी कोई चाहिये और वह अवश्यही हम लोगों से उत्कृष्ट होगा, क्योंकि जो श्रेष्ठ या ऊंचा न होगा वह हमलोगों पर 'भार' नहीं रख सकता है। और आत्मा का एक अंश दूसरे पर 'भार' दे यह कहना भी अयुक्त है। अत एव निज से परे कोई जीव अवश्य होना चाहिये जो 'भार' आरोपण करसके। कर्तव्याकर्तव्य विचारों में यह 'भार' आरोपण करनेवाला जीव 'ईश्वर' है तब इस दृष्टि से आध्यात्मिकमार्ग या क्रम की मूल या सार वस्तु क्या है ?

(१) आत्म-बोध होना सम्भव है अर्थात् आत्म-बोध साध्य है, और इस नीति में और २ ज्ञानों का यह आत्म-ज्ञान अग्रसर है अर्थात् मनुष्य पहिले अपने को जान लेता है तब दूसरे मनुष्य का आन्तरिक भाव जान सकता है॥

(२) निज के अतिरिक्त और विषयों को भी आदमी आत्म-बोध के सहारे जान लेता है। आन्तरिक ज्ञान के साथ २ बाहरी वस्तुओं का भी सत्य २ ज्ञान होता है॥

इन दोनों अबाध्योपक्रमों से यह सिद्ध है कि आध्यात्मिक क्रम (क) आत्म-चिंता से आरम्भ होता है और (ख) प्रत्येक वस्तु सम्बन्धी मानी हुई बात को जो आत्मानुभाव बाहरी वस्तुओं के बारे में कहता है, सच मानता है॥

ऊपर वाले दोनों अबाध्योपक्रमों को समझने के लिये और भी सुनिये।

(१) आत्म-बोध होना अवश्य सम्भव है, क्योंकि यह प्रतिदिन देखा जाता है कि मनुष्य अपने विचार, अनुभव और अभिप्रायों को कहता रहता है तब हमलोग कैसे कह सकते हैं कि इनको वह नहीं जानता और जब यह मानलिया कि इन को जानता है तो अवश्य ही बाहरी वस्तुओं से इनका ज्ञान नहीं होता है, अपने अभिप्राय विचार इत्यादि को आंख से देख कर वा त्वचा से स्पर्श करके नहीं जान सकता है पर ध्यानरूपी आन्तरिक दृष्टि से अवलोकन करता है। अब विचारिये इस ज्ञानचक्षु से जानी हुई आन्तरिकभाव विषयक बातें क्या सच नहीं हैं? क्या यह सत्य नहीं है कि लज्जा का बोध मेघ गर्जन से भिन्न है और त्रिकोण क्षेत्रों की तुलना ईश्वर प्रार्थना की लालसा से भिन्न है? और यदि ये बातें सच हैं तो क्या इनको विचारने और भिन्न २ मानसिक कर्मों को क्रम से रखने में कुछ फल नहीं है? मानसिक विषयों का क्रम अवश्य कोई ही होगा।

(२) दूसरा अवाध्योपक्रम – हमलोग अध्यात्मविद्या से निज के अतिरिक्त और विषयों को भी जानते हैं पर इसका सिद्ध करना वा स्थिर रखना पहिले पहल कठिन देख पड़ता है। इस कठिनता की असल जड़ यह प्रमाणव्यतिरिक्तदृष्टहीतपक्ष है कि "केवल सदृश ही सदृश से जाना जा सकता है" विचार विचारही करने से और आत्म-ज्योति आत्म-चक्षुही से जानी जा सकती है। इसी के अनुसार यह कहा जाता है कि अपने अन्तर्बोध से हम लोग केवल अपनी भावनाओं को जानसकते हैं और कुछ नहीं। अब इस पक्ष को अमूलक दिखलाने के लिये इसका विरोधी पक्ष भी दिखला देना यथेष्ट होगा। वह यह है कि "जो कुछ जाना जाता है वह अवश्यही जानने वाले के असदृश कोई वस्तु होती है"। आंख दृष्टि नहीं देखती है

पर ज्योति देखती है; मन को जो वस्तु सोचने के लिये दी जाती है उसकी अपेक्षा वह अपने आकारों को कम सोचता है और आन्तरिक विषय को अवलोकन करने में भी मन अवलोकनीय विषय से अलगही खड़ा रहता है और दोनों में स्थान और काल का भेद तो कुछ अवश्यही रहता है। मन सम्बन्धी और वस्तु सम्बन्धी ज्ञान अन्योन्याश्रित हैं और अवश्यही संग २ चलते हैं, एक के नष्ट होने पर दूसरा भी लुप्त हो जाता है। यह द्वैधी विश्वास इस स्वयंसिद्ध परिभाषा पर स्थिर है कि हम लोगों को अपने मन या शरीर की शक्तियों के तात्कालिक निवेदन (वा व्याख्या) को अवश्य सच मानना चाहिये, और कि वे अवाध्योपक्रम जिनके बिना मन कार्य करही नहीं सकता यथार्थ हैं अर्थात् निरन्तर विश्वासनीय हैं॥

यदि मन वा शरीर की एक शक्ति दूसरी शक्ति के विरुद्ध किसी विषय में साक्षी दे तो किसका कथन विश्वास योग्य है? यदि संसारी वस्तुओं का अवलोकन सभों में 'बिना कारण अनुक्रम' (एक के बाद दूसरे का होना) दिखलावे, और यदि सङ्कल्पशक्ति का आन्तरिक व्यवहार सभों में बिना कारण दिख लावे चाहे अनुक्रम हो या न हो, तो कौन मानने योग्य है? इसका उत्तर यह है कि "प्रत्येक (शक्ति) अपनेही अधिकार (वा मण्डल) में निर्देशक होय, और इसके आगे नहीं" अतएव "किसी (शक्ति) को दूसरे के राज्य के बारे में कुछ न्यायाधिकार या अभिमान नहीं है"। सदसदाचार सम्बन्धी विषय चीखे, देखे, या सुने नहीं जा सकते हैं; और न चीखने, देखने और सुनने योग्य वस्तु सदसदाचार सम्बन्धी बोध वा शक्तियों से विचारी जा सकती हैं॥

'मन वा शरीर की शक्तियों' से एकही व्यक्ति के भिन्न २ अधिकार (वा कर्म) समझने चाहिये। पर प्रत्येक कार्य का

कार्त्ता वह शक्ति या इन्द्री नहीं है, वरञ्च 'श्रद्वैत जीवात्मा' है। यही आत्मा 'जानती' (या समझती है,) यही आत्मा 'इच्छा करती या सङ्कल्प करती है, और यही आत्मा 'अनुभव करती है'। येही तोन मन की शक्तियां (या कर्म) है। ये प्रायः एक दूसरे के संग पायी जाती हैं॥

अध्यात्मिक सदसद्विचार शास्त्र भी दो प्रकार का है (१) विशेष अध्यात्मिक और (२) प्रतिकूल-अध्यात्मिक । पहिले को शुद्ध अध्यात्मिक रीति और दूसरे को अशुद्ध अध्यात्मिक रीति समझना चाहिये अतएव इस पुस्तक में प्रथम ही रीति की व्याख्या है॥

विशेष (वा शुद्ध) अध्यात्मिक

कर्तव्याकर्तव्य-शास्त्र ।

प्रथम अध्याय ।

मूलक कर्तव्याकर्तव्य – विषयक तत्व ।

सदसदाचार सम्बन्धी अन्तर्बोध में मूल विषय या तत्व यही है कि सब जीवधारियों से ' मनुष्य ' * न्यारा होने के कारण उसमें सराहने और निन्दा करने, भले बुरे, वा उचित अनुचित, के विचारने वा निर्णय करने, की अटल वा अनिवारणीय प्रवृत्ति है । सराहनीय पुरुष में गुणोत्कर्ष और निन्दित में गुणाभाव होते हैं । लोग सराहे पुरुष को आदर, मर्य्यादा, और निन्दित का अपमान, अनादर करते हैं । इस प्रकार का सोचना इतना व्यवहारिक है कि संसार की मुख्य २ भाषाओं में इस के जताने वाले सभी शब्द अभ्यास और व्यवहारद्योतक हैं, जैसे,ग्रीक भाषा में 'इथिक्स' (Ethics), जर्मन-भाषा में 'सिटेन' (Sitten), लैटिन में 'मारेल्स' (Morals), फ्रेंच में 'मोरिस' (Moris) और अंगरेजी भाषा में 'मारेल्स' (Morals),—ये सभी शब्द अभ्यास वा व्यवहारद्योतक हैं । [संस्कृत शब्द 'धर्म' (=रीति, जाति व्यवहार) और 'न्याय' (=नीतिव्यवहार) भी इसी अभिप्राय के हैं] मनुष्यजाति का यह व्यवहार अचानचक नहीं हो गया पर मनुष्य के प्राकृतिक स्वभावही के अनुसार यह व्यवहार प्रचलित है ।

---

* Man—lit 'the thinking mind' A S mann-root man,to think मनुष्य = मनु + ष्य मनु = मन + उ मन = म ध करना, मननकरना जानना

मनुष्य किसी कर्म को जब अपना कर्म समझ कर उसकी आलोचना करता है तो 'कर्तव्य,' 'स्वधर्म,' वा 'क्षत्य ' शब्द का प्रयोग करता है। इस शब्द से यह झलकता है कि हमें कुछ ऋण है वह हमें अवश्य चुकाना चाहिये। 'भार' शब्द का भी वही अर्थ है, मानो कोई कर्म वा विषय हमें बांधता है, जो हमें अवश्य करनाही चाहिये। अपने पर के भार का आन्तरिक अनुभव और दूसरों पर ' भार ' आरोपण करना, ये दोनों ही एकही प्रकृति के दो अनुरूप (समानान्तर) और सहयोगी (सहकारो) प्रकाश हैं। इन में से कोई एक भी दूसरे के पहिले या पोछे नहीं होता॥

इसके अन्तरवर्ती विषयों का विस्तारण।

(१) सदसदाचार—सम्बन्धी निर्णय (या विचार) के पात्र।

सदसदाचार सम्बन्धी निर्णय के पात्र कौन २ हैं? अर्थात् वे कौन विषय हैं जिनका हमलोग इस रीति से निर्णय वा विचार किया करते हैं?

(१) मनुष्यों ही की और न कि वस्तुओं की हमलोग सराहन या निन्दा किया करते हैं। यह बात स्वयं स्पष्ट है। पहाड़, नदी, तारे, घर, नौका आदि वस्तु हिताहित—ज्ञान के पात्र नहीं होते। यदि इनको कभी सराहना वा निन्दा करते हैं तो उस समय इनमें भी आत्मा मानलेते हैं। किसी घर की प्रशंसा करना, या किसी नौका की निन्दा करना केवल उसके कारीगर की निपुणता की प्रशंसा या निन्दा करना है। किसी वस्तु को सुन्दर देखकर उसके बनानेवाले को तभी प्रशंसा करेंगे जब उसके बनाने में बनानेवाले को अभिलाषा उसको वैसाही बनाने की थी। अतएव

[२] हमलोग सब कार्य के 'आन्तरिक मूल वा कारण का विचार करते हैं और न कि उसके बाहरी व्यापार (वा प्रभाव) का। कारण ही की और न कि कार्य की सराहना वा निन्दा होती है। इस पक्ष का सभी तत्वज्ञानी समर्थन करते हैं। उनमें से एक ने कहा है कि 'कार्य' की तीन अवस्थाएं हैं—(क) मनोभाव, जिससे इसकी उत्पत्ति होती है; (ख) शारीरिक गति, जिसमें यह देख पड़ता है; (ग) परिणाम, जो इससे निकलता है। इन तीनों में से प्रथम सदसदाचार – सम्बन्धी निर्णय में मुख्य है। अभिप्राय [मन की अवस्था] ही बुरा या भला कहलाता है क्योंकि अभिप्राय को छोड़कर केवल शारीरिक गति में कर्तव्याकर्तव्य – विचार कुछ नहीं है। बुरे परिणाम से यदि कर्त्ता का अभिप्राय अच्छा हो तो किसी कार्य को बुरा नहीं कह सकते हैं और अच्छे परिणाम से कोई कार्य अच्छा भी नहीं हो सकता है यदि बुरे फल के अभिप्राय से वह कार्य किया गया हो। यदि किसी मनुष्य पर कोई जंगली जानवर आक्रमण करे और उस समय में उसका कोई मित्र उस जानवर से बचाने की अभिप्राय से गोली चलावे, पर अभाग्यवश उस पुरुष को वह गोली लग जाय तो वह कर्तव्याकर्तव्य – विचार के अनुसार दोषी नहीं ठहराया जा सकता। यदि किसी दास के स्वामी की कठिन क्रूरता से दास–विक्रय उठा दिया जाय तो उसकी वह क्रूरता सराहनीय नहीं हो सकती। यदि किसी कार्य के अभिप्राय को न जानकर प्रशंसा वा निन्दा करें तो पीछे उसके वास्तविक अभिप्राय को जानकर अपने निर्णय को उलट सकते हैं; पर यदि सत्य अभिप्राय को जानकर उसकी सराहना वा निन्दा करें और फिर यदि उसका परिणाम उसके विरुद्ध हो तो अपने पूर्व विचार को उलटना ठीक नहीं॥

(३) पहिले हमलोग अपनाही (अर्थात् अपनेही हेतु वा

अभिप्राय का) निर्णय (या विचार) करते हैं और तब गौण रूप से दूसरे का। हमलोग पहिले किसका विचार करते हैं?" यह प्रश्न कर्त्तव्याकर्त्तव्य—शास्त्र में एक प्रधान विषय है। इस विद्या में इस प्रश्न का ठीक २ उत्तर जानना बहुत आवश्यक है। पहिले सिद्धकर आये हैं कि हमलोग पहिले अपने कार्यों के आन्तरिक उत्पत्ति वा मूल का विचार करते हैं। अब यह विचार किसी बाहरी अवलोकन से नहीं जाना जाता पर पहिले पहल केवल भीतरी आत्मानुभव ही से जाना जा सकता है। दूसरे मनुष्य के कार्य के विषय में इच्छा करने के उपरान्त उसका प्रत्यक्ष चिन्ह वा संकेतही पहिले पहल हम लोगों को देख पड़ता है; इसके पूर्व की घटना दर्शन और श्रवण शक्ति के बाहर है और कार्य्य केवल बाहरी संकेत के निगमन से जाना जाता है। यह संकेत भी हमलोगों को अर्थहीन ही देख पड़ेगा यदि अभिप्रेत वस्तु आन्तरीय परीक्षा वा अनुभव के द्वारा हम लोगों को पहिले से ज्ञात न रहे। अपने अनुभूत मनोराग के लक्षण दूसरे में हमलोग तुरत ही पहिचान लेते हैं। पर स्वयं स्नेह का बिना अनुभव किये हुये किसी मां के निज पुत्रस्नेह को; शोक का बिना अनुभव किये हुये सिसकते हुये शोक करने वाले को; और बिना ईश्वर भक्ति के ज्ञान के, ईश्वर प्रार्थना के हेतु जुड़े हुए हाथों को, हम लोग कैसे जड़ की नाईं निहारते रहेंगे! समान ही प्रकृतिवाले एक दूसरे के भावों को बूझ सकते हैं। जो अपने पड़ोसी पर गुप्त नीच बर्ताव का संदेह करेगा वह स्वयं निर्मल स्वभाव का हो, यह भी कमही सम्भव है। जैसे हमलोग स्वयं हैं वैसेही हमलोगों को संसार भी देख पड़ता है॥

यह कहने से कि कर्त्तव्याकर्त्तव्य का विचार आत्मचिन्ता से उत्पन्न होता है, कोई यह न समझे कि एकांतवासी मनुष्य को यह हो सकता है, या कि हमलोगों के व्यवहार वा परीक्षा

में दो अवस्था मालूम पड़ती हैं—पहिली आत्म-विचार की और दूसरी थोड़े अन्तर के उपरान्त दूसरों पर निर्णय करने की। यह तो निःसन्देह है कि दूसरों का अवस्थान (या विद्यमानता) कर्त्तव्याकर्त्तव्य विचार के लिये अति आवश्यक है। यह सच है कि हमलोग पहिले अपना ही विचार करते हैं, पर बिना दूसरों की सहायता के नहीं। दूसरों के आचरण को देख कर हमलोग अपने आचरण की रीति (या रूप) को सिद्ध करते हैं और उनके विषय में अपने भावों के अर्थ को समझते हैं। जैसे इन्द्रियज्ञान में ज्ञाता आत्मा वस्तु (अर्थात् उसके आस्पद) के सहारे से जाना जाता है, वैसेही सदसदाचार—निर्णय में अन्तःकरण दूसरे मनुष्यों के सहारे से जाना जाता है। सच तो यह है कि समाज और व्यक्ति दोनों दृढ़ रूप से एक दूसरे के साथ बंधे हुये हैं। मनुष्य का सभ्य जन होना समाज के बिना असम्भव है। पर पहिले मनुष्य जातीयता और तब व्यक्तित्व, यह प्रकृति और ईश्वरीय विधि के क्रम हैं॥

यह तृतीय आस्पद बहुत सच्ची कसौटी है जिससे हमलोग कर्त्तव्याकर्त्तव्य विचार सम्बन्धी युक्तियों की असत्यता को पहिचान सकते हैं।

(४) केवल 'सङ्कल्प या इच्छा' ही का विचार हमलोग करते हैं, न कि इच्छा रहित कार्यों (स्वैरत्व) का। कर्त्तव्याकर्त्तव्य विचार सम्बन्धी जीवन केवल इच्छा सम्बन्धी मण्डल में रहता है॥

(५) पर सङ्कल्प और इच्छाराहित्य में क्या भेद है? और जो कुछ भेद हो पर इतना तो स्पष्ट है कि इच्छाराहित्य दशा में केवल एक चित्त संस्कार उपस्थित रहता है, सङ्कल्प दशा में दो से कम नहीं। स्वैरत्व एक बल (Force) है जो केवल एकही नियत दिशा में दौड़ाता है, पर केवल 'बल' सदसदाचार

सम्बन्धो निर्णय का आरम्भ नहीं हो सकता है । दूसरा, अभिप्राय सूचित करता है अर्थात् कम से कम दो प्रतिविरोधी कार्योत्पादक हेतुओं में से एक को पसन्द करता है । यह एक चित्त संस्कार का अनुसरण करता है और दूसरे को त्यागता है । अतएव अनुभावन (अर्थात् उपमा के द्वारा निर्णय) इस में अत्यावश्यक है और तुलना के लिये अनेक दृष्टान्त आवश्यक हैं। सच तो यह है कि हमलोग जैसा पहिले कह चुके हैं, आभ्यन्तरिक कार्योत्पादक हेतु का विचार करते हैं; पर यदि मन में एक ही हेतु हो तो उसका सदसदाचार सम्बन्धो निर्णय क्या करेंगे; क्योंकि सब निर्णय सापेक्ष है और भिन्नता दिखलाते हैं अतएव एक से अधिक हेतुओं का एक संग उपस्थित होना आवश्यक है और जहां एक ही हेतु मन में उपस्थित रहता है वहां भी तुलना के लिये दो भिन्न वस्तुएं देख पड़ती हैं। (१) मन उस कार्योत्पादक हेतु के सहित, और (२) मन उसके विना ॥

(६) यह समकालीन प्रवृतियों का अनेकत्व भी सदसदाचार सम्बन्धो निर्णय का तब तक पात्र नहीं हो सकता है जब तक कि यह " समकालीन साध्य (प्रावृतियों ," का अनेकत्व न मालूम पड़े। (क) प्रवृतियां आपस में समकालीन होनी चाहिये; और (ख) वे दोनों हमलोगों के लिये 'साध्य' वा संभव होनी चाहियें ॥

(क) ये प्रवृत्तियां यदि एक साथ न उपस्थित होतीं तो जो पहिले आतो उसो का अनुसरण लोग करते। अनुभावन तब तक असंभव है जब तक दोनों वस्तुएं मन में एक साथ उपस्थित न रहें। जो मन में उपस्थित नहीं है उसको ग्रहण या अस्वीकार नहीं कर सकते हैं। अतएव सदसदाचार सम्बन्धी निर्णय में प्रवृत्तियों को 'समकालीन' होना चाहिये ॥

(ख) और उन में से प्रत्येक हमलोगों के साध्य होनी चाहियें, अर्थात्, उनमें से किसका अनुसरण हमलोग करें यह निश्चय करना उन सभों के सम्बन्ध में हम लोगों के हाथ रहे और न कि उन सभों के हाथ में। मान लिया कि यह हम लोगों के हाथ है, पर उससे क्या ? तो इसका उत्तर कोई २ यह देते हैं कि 'हमलोग' से 'हमलोगों का वर्तमान भाव (या स्वभाव)' समझना चाहिये जो स्वभाव कि पैत्राधिकार (Inheritance), प्रकृति (Temperament), अनुभव (Experience) निमित्त व्यवहार वा बान (Formed habits), और आत्म – शिक्षा (Self discipline) से बना है। इतना तो सच है कि ये सब जीवात्मा के अन्तर्गत हैं, पर यह नहीं मान सकते हैं कि आत्मा में केवल येही हैं और येही इसके सब वास्तविक और स्वाभाविक इच्छाओं का पूरा २ हाल बतलाते हैं। यदि इसीके अनुसार चलें तो कार्य को स्वतंत्रता के लिये कोई स्थान बाकी न बचेगा । जब अपने कार्य का विचार हम लोग करते हैं तो अवश्य जानते हैं कि ये कार्य हमारे हैं और यह इस मतलब से कहते हैं कि हम उस समय इनको छोड़कर दूसरे काम को भी कर सकते थे। अतएव कर्त्तव्याकर्त्तव्य विचार दो साध्य कार्यों में से एक को चुनने का अधिकार आत्मा को सौंपता है ॥

यदि अपने को हमलोग केवल युद्धभूमि में समझें कि जिस में ये विरोधी कार्योत्पादक हेतु अपना २ बल दिखलावें और एक दूसरे को पराजित करके अपनी जय प्रकाश करें तो इसके परिणाम में हमलोग न प्रशंसा और न निन्दाही ले सकते हैं। इच्छानुसार एक या दूसरे का अनुसरण कर सकते हैं और तब यह जानसकते हैं कि इनको नौकरी में अधिक या कम नीचता है। कुछ हो, पर यह नौकरी अधीनताही है। अतएव अपने पर दया प्रकाश कर सकते हैं पर धिक्कार या निन्दा नहीं। धिक्कार

वा निन्दा के लिये यह स्पष्ट है कि ये कार्योत्पादक चित्त – संस्कार या हेतु उस आत्मा के सामने लाये जाय जो उन सभों से बड़ा स्वतन्त्र और न्यायकर्त्ता है और अपनी कचहरी मे आये हुये स्वत्वचाहनेवालों के स्वत्व निर्णय करने में समर्थ है ॥

अन्त मे यही कहना है कि "चाहे स्वच्छन्दता (स्वेच्छा या स्वेच्छाचारित्व (Free-will) सत्य (या यथार्थ) है, या सदसदाचार सम्बन्धी निर्णय भ्रम है"। अर्थात् दो में से एक तो अवश्य मानना होगा; या तो इच्छा स्वतन्त्र है, और नहीं तो कर्तव्याकर्तव्य विचार झूठी माया है। किसी कार्य करने के लिये कर्त्ता को तभी निन्दा वा प्रशंसा करेंगे जब दूसरा कार्य उसी समय करने की सामर्थ भी उसकी रही हो ॥

तब कर्तव्याकर्तव्य – विचारनिर्णय कर्तव्याकर्तव्य सम्बन्धी स्वतन्त्रता स्वीकार करता है और इससे उपरी (बाहरी) बन्धन की अनस्थिति प्रकाश नहीं करता, पर यह समझता है कि आन्तरिक कार्योत्पादक हेतुओं के निर्णय करने में आत्मीय शक्ति उपस्थित रहती है ॥

यहां पर सदसदाचार सम्बन्धी निर्णय के पात्र की गणना पूरी हुई। ये हमलोगों के जान के किये हुये कार्यों के आन्तरिक आदिकारण हैं जिनको इच्छा ने स्वच्छन्दता से ग्रहण किया या निकाल दिया है ॥

(२) सदसदाचार – सम्बन्धी निर्णय की रीति।

मन किस रीति से अपने चित्तसंस्कार और संकल्पों का विचार करता है – इसका ब्योरा अब लिखते हैं ॥

(१) एक प्रधान नियम यह है कि कई चित्तसंस्कार एकही काल में उपस्थित हों और एक दूसरे से टक्कर लड़ें और

एक दूसरे को रोकें और बाहर निकालें। बिना दूसरे मनुष्य को देखे हुये आदमी अपनी स्थिति को भी भले प्रकार से नहीं जान सकता है। इसी प्रकार जब तक दो प्रतिविरोधी चित्तसंस्कार एकही समय उपस्थित न हों अथवा एक के आने से दूसरे को बाधा न पहुंचे तब तक सदसदाचार सम्बन्धी आत्मान्तर्बोध सोता रहेगा। केवल भेदही होने से फल नहीं निकलेगा यदि बहुतेरे चित्तसंस्कार हमारे मन में क्रमशः एक के लोप होने पर दूसरे देख पड़ें तो भी वे हमारे ध्यान के पात्र नहीं होंगे। पर स्वैरल दशा तभी आत्मान्तर्बोध दशा होवेगी जब यह भेद केवल भेदही भर रह कर बढ़ते २ युद्ध हो जायगा (अर्थात् जब चित्तसंस्कार आपस में लड़ने लगेंगे)। जब तक दो विरोधी चित्तसंस्कार (Impulses) हमारे अन्तर्बोध में न देख पड़ें और स्थान प्राप्ति के लिये न झगड़ें तब तक उन दोनों का भेद हमलोग नहीं जान सकते और न उनका निर्णय वा विचार कर सकते हैं। पर ज्योंहीं यह नियम पूरा होता है त्योंहीं हमलोगों को उन दोनों के भेद का ज्ञान हो जाता है। यह भेद बल या गुण सम्बन्धी नहीं है, स्वाद और रंग का भेद इस में नहीं है। इस भेद को बतलाने के लिये सभों से भिन्न एक विशेष शब्द रचना की आवश्यकता है, वह यह है कि एक (कार्योत्पादक हेतु) दूसरे से ऊंचा वा उत्कृष्ट है, और उसकी तुलना में हमलोगों पर अपना अधिकार रखता है। यह बोध हमलोगों का अपना उत्पन्न किया हुआ नहीं है कि जिसका हमलोग हाल बतला सकें, पर उन नियमों के व्यवहार (वा अनुभव) ही में यह सद्यः स्वाभाविक (वा अन्तर्जात) है। केवल दोनों के एक साथ अन्तर्चक्षु के सामने प्रत्यक्ष होने ही से वे दोनों अपनी २ योग्यता और प्रमाणपत्र दिखला देते हैं। यदि कोई लालची लड़का मुरब्बे के घर में अकेला जा

पहुंचे तो वह जल्दी २ मुरब्बा खाने लगेगा, पर अपनी इच्छा सन्तुष्ट करने के बाद ही हाथ पोछते ही पोछते, अपनी करनी पर यह जानकर पछतावा करने लगेगा कि सत्य – शीलता, जिस को उसने तोड़ दिया है, उस क्षुधा से नीच है, कि जिसको उसने सन्तुष्ट किया है । अधीर लड़का अपनी अधीरता से उलझाये हुये नख या वंसी की तग्गी को तोड़ कर अपने को असलाये का अपराधी न समझेगा । पर यदि वह अपना क्रोध अपनी बहिन पर उतारे कि जिससे उसका कोई अंग फूट जाय और वह रोती सिधारे, तो तुरतही वह पछतावे में पड़ेगा कि स्नेह, जिसका उसने अपमान किया है, उस क्रोध से कहीं श्रेष्ठ है, जिसको उसने सन्तुष्ट किया है। प्यासा पथिक जंगल में खोजते २ किसी झरना को पाकर बिना समझे बूझे पानी पीने लगेगा, पर यदि उसका संगी हांफता और प्यास से मर रहा हो तो उसके मन में यह बात आवेगी कि तृपा दया से बढ़कर नहीं है और अतएव वह ठंढे पानी का कटोरा पहिले दूसरेही के मुख में लगावेगा । इन अवस्थाओं में यदि एकही चित्तसंस्कार उपस्थित होता तो बिना समझे बूझे वह मनुष्यों से अपनीही इच्छा पूरी करवाता, पर ज्योंहीं दूसरा भी उसी समय आकर उपस्थित होता है त्योंहीं ये दोनों ही अपने २ सापेक्ष स्थान पर प्राप्त होते हैं। इस विषय में चित्तसंस्कारों का निकटवर्त्तित्व और वैपरीत्य, इन दोनों का होना आवश्यक है इससे अधिक की आवश्यकता नहीं है, और इससे कम से काम नहीं चलेगा । हम लोग दोनो चित्तसंस्कारों का अनुसरण नहीं कर सकते हैं; और न किसी के स्वत्व और स्थान में सदेह भी कर सकते है । उनका सदसदाचार विषयक मोल उनके समकालीन दर्शन से ही तत्काल निश्चय हो जाता है ।

अब तक बराबर लिखते आये हैं कि एक कार्योत्पादक हेतु अथवा चित्तसंस्कार दूसरे से श्रेष्ट वा ऊंचा है, और दूसरा उससे नीच या नीचे है। यहां पर यह सदेह हो सकता है कि वह एक गुण (positive) वस्तु कौन है कि जिससे कोई श्रेष्ट है और कोई निकृष्ट; अथवा वह श्रेणी कौन सी है जिस में कोई चित्तसंस्कार ऊपर और कोई नीचे है ?

यह जानना चाहिये कि जिस वस्तु से जिस प्रकार का भाव हम लोगों को उत्पन्न होता है उसी भाव को हमलोग उस वस्तु का गुण कहते हैं। ऊपरवाले प्रश्न में कार्योत्पादक-हेतुही एक वस्तु है जिसका गुण बतलाना है। तब उसी प्रश्न को इस तौर से पूछ सकते हैं, कि उन चित्तसंस्कारों के प्रत्यक्षता से हमलोगों पर कौन सा भाव उदय होता है कि हमलोग उन हेतुओं में तारतम्य बतलाते हैं ? उक्त श्रेणी हर्ष की नहीं है क्योंकि हर्ष का तारतम्य होता तो चुराकर मिठाई खाने पर हर्ष के सिवाय लाज और पश्चाताप नहीं होता। यह सौन्दर्य की भी श्रेणी नहीं है; क्योंकि छोटी या टेढ़ी नाक होने से हम लोगों को पश्चाताप नहीं होता है, केवल यही अभिलाषा होती कि यह सीधी और बड़ी होती। इन कार्योत्पादक--हेतुओं की प्रत्यक्षता से हमलोगों को कर्त्तव्य कर्म तथा सदसत्, वा सदसदाचारसम्बन्धी प्रभाव (महातम्य) का बोध होता है, और यह भी ज्ञान होता है कि निम्न स्थित हेतुओं को अनुकरण करने की यद्यपि पूरी सामर्थ्य रखते हैं, पर तौभी उनके अनुकरण करने में स्वतंत्र नहीं हैं। अतएव पूर्वोक्त पदतारतम्य सदसदाचारसम्बन्धी श्रेणी में रहता है। और यह सदसत का बोध अनुपम (या अनूठा) है और हम इसके मूल अवयवों को पृथक नहीं कर सकते हैं।

इस गुण को बतलाने के लिये यद्यपि बहुत से शब्द हैं पर उन सभों में "सदसदाचारसम्बन्धी मोल या मान (Moral worth) ही अधिकतम ग्रहणीय है क्योंकि (क यह उसके उपयुक्त है जो मूल्य क्रम * से सम्बन्ध रखता है, और (ख) अंतरी साक्षियों से † भी बचा है अर्थात् इसके साथ २ दूसरे भावों का उदय नहीं होता है। जहां केवल दो हेतुओं का विचार करते हैं, 'कर्तव्य' और 'उचित' (Right) प्रायः नहीं बोले जाते हैं समूची हेतुओं की श्रेणी के लिये ये नहीं बोले जा सकते हैं। 'धर्म' (Virtue) केवल ऊपरी श्रेणी में प्रयोग किया जा सकता है नीचे की श्रेणी में नहीं और इस शब्द के साथ अधिक गुण की ध्वनि आती है। अतएव पहिलाही पद सब से अधिक ग्रहणीय है॥

(२) यदि आत्म- विचार की यही सच्ची रीति है तो इस से सदसदाचारसम्बन्धी बोध की विधि अच्छे प्रकार से प्रकाशित होती है। यदि प्रथम चित्तसंस्कार के जोड़ इसी प्रकार से अपने सापेक्ष मूल्य को प्रकाश करते हैं तो सभी चित्तसंस्कार इसी रीति से अपने सापेक्ष मूल्य को प्रकाशित करेंगे। प्रत्येक दूसरे के संग प्रत्यक्ष होकर अपना मोल दिखलावेंगे और सदसदाचार-सम्बन्धी श्रेणी में अपने उचित स्थान पर जा बैठेंगे। और जब इसी प्रकार से सब चित्तसंस्कार परीक्षा किये जा चुकेंगे तो उक्त श्रेणी पूरी हो सकेगी जिसमें एक दूसरे का क्रमगत स्थान नियत रहेगा। और तब ईश्वरीय नियम का (Systematic) अनुक्रामिक शास्त्र बन जायगा। सच पूछिये तो समग्र श्रेणी के लिये पूरे विषय ही मिलने कठिन है और यह श्रेणी कभी

* Gradations of value.

† Intrusive associations.

पूरी बनोही नहीं होगी। क्योंकि मनुष्य की प्रकृति ऐसी है कि सदा नये २ चित्तसंस्कार प्रगट होते हैं, और समाज की सुधार से भी नये २ चित्तसंस्कारों की उत्पत्ति होती रहती है। तौभी ऊपर लिखी हुई रीति से मानवी चित्तसंस्कारों के यथार्थ नियम की खोजते हुये हमलोग सदसदाचारसम्बन्धी मौलको युक्ति का आरम्भ कर सकते हैं। पर यदि इस मार्ग से बहक जाय तो कर्तव्याकर्तव्य विचार की व्याख्या नहीं कर सकते। कर्त्तव्याकर्तव्य विचार सम्बन्धी नियम का समग्र तत्व इसी पर निर्भर है, कि हमलोग जानते हैं कि हमलोगों के स्वाभाविक चित्तसंस्कारों में उनके बाहरी फल के अनपेक्ष एक उत्कर्ष की अनुक्रमिक श्रेणी भी है॥

(३) मन की इस श्रेणी (Scale) के क्रम के ज्ञान को ही हमलोग हिताहित ज्ञान शक्ति (Conscience) अर्थात्, अपनी आत्मा के संग भले और बुरे का ज्ञान कहते हैं, यह ज्ञान शक्ति जितनी ही उत्कृष्ट होगी, उतनेही अधिक सूक्ष्म गुप्त विषय जाने जायगे। जो आदमी एक प्रकृति और दूसरी प्रकृति में कोई भेद नहीं अनुभव करता है, जो क्षुधा या स्नेह, क्रोध या करुणा दोनों ही को समान उपेक्षा से अनुसरण करता है, और दोनों ही में समान आनन्द अनुभव करता है, वह हिताहितज्ञान से हीन है। यदि इन में वह भेद भी समझे पर वह भेद अन्तरी प्रभाव का भेद न होकर केवल हर्ष या वाह्यिक लाभ ही का हो, तौभी वह हिताहित ज्ञान से हीन ही है। अतएव, हिताहित ज्ञान (वा अन्तःकरण) हम लोगों के भिन्न भिन्न कार्योत्पादक हेतुओं के सापेक्ष अधिकार का सूक्ष्मदर्शी बोध वा इन्द्रियज्ञान † है। इस अधिकार का ज्ञान केवल इन आदि कारणों के आभ्यन्तरिक झगड़ेही में अनुमान से सिद्ध है। पर

† Critical perception

जब चिन्ताशील आत्मज्ञान के द्वारा प्रत्यक्ष में लाया जाता है तब यह आनुक्रमिक (Systematic) रूप धारण करता है और अपने को जीवन का न्याय सम्बन्धी अनुशासक * कहता है॥

हिताहितज्ञान--कल्पना की
प्रासंगिक परीक्षा वा जांच।

सदसदाचारसम्बन्धी–विचार की रीति का और हिताहितज्ञान की प्रकृति और उत्पत्ति का यह व्याख्यान किसी अध्यात्म विद्या विषयक अनुभव (वा परीक्षा) के विरुध नहीं देख पड़ता और अधिकार कर्त्तव्याकर्तव्य-विचार-शास्त्र लेखकों के सदसदाचारसम्बन्धी ज्ञान की व्याख्या से भी मुख्य विषयों में यह अलग नहीं होता। पर प्रसंग आने से यहां इसकी कई उपदेशयुक्त जांच लिखी जाती है॥

(१) यह विश्वास लोगों में प्रचलित है कि हिताहितज्ञान युक्त (वा धर्मशील, विवेकी) मनुष्य चित्त का निर्बल वा शक्ति हीन हो सकता है, वरं होही जाता है। यह विश्वास पूर्वोक्त कल्पना के संगत ही है, क्योंकि यह हिताहितज्ञान को सूक्ष्मदर्शी (वा समालोचक) शक्ति सिद्ध करता है, अर्थात् वह शक्ति जो केवल सदसदाचारसम्बन्धी मोल का क्रम दिखलाती है। अतएव इस शक्ति को प्रत्येक चित्तसंस्कार के बलाबल से कुछ प्रयोजन नहीं है। यह केवल उन चित्तसंस्कारों का मोल ठहराती है। यह केवल विचार करती है पर कार्य करने में कोई उत्साह नहीं देती अतएव यह हो सकता है कि मनुष्य विवेकी होय पर धर्म विषयक कार्यपरता उसमें न हो। सब से बड़ा धर्मविवेकी मनुष्य सब से उत्तम मनुष्य होय यह आवश्यक नहीं है। धर्मशील (वा विवेकी) मनुष्य संदेही होता है। वह सदा यह

* Judicial regulator of life.

देखता रहता है कि कहीं कोई असत् कार्य अपने से न होजाय। पर अच्छा आदमी वा उपकारी होने के लिये इस से अधिक कुछ करना चाहिये। उसको चाहिये कि अपनी हानि का ध्यान न करके उचित कर्म का अनुसरण उत्साह और अनुराग से करे। पर केवल धर्मविवेक से इसके होने की कोई आशा नहीं है। वरञ्च कर्त्तव्याकर्तव्य ज्ञान और कार्य कुशलता एक दूसरे के विरोधी भी हैं॥

(२) यह प्राय देखा जाता है कि यद्यपि सभी मनुष्यों के लिये कर्तव्याकर्तव्यविचार विषयक निर्णय की एकही रीति है, तौभी एक मनुष्य का विचार या निर्णय) दूसरे से भिन्न होता है। इसका कारण समझना कठिन नहीं है। कर्त्तव्याकर्तव्यविचार विषयक सम्पूर्ण अंगो वस्तुत किसी को प्रत्यक्ष नहीं है, उनमें से किसी को थोड़ा और किसी को बहुत मालूम है। तिस पर भी सब लोग यदि उस अंगो के एकही अंश से अवगत होते तो उन लोगों का विचार एक हो सकता था सो भी नहीं है, कोई मनुष्य एक अंश के और कोई दूसरे के ज्ञाता हैं। इस भेद का परिणाम भी अवश्यही होता है। प्रत्येक कर्त्तव्याकर्तव्यविचार—निर्णय में तुलना के लिये दो वस्तु अवश्य चाहिये। पर निर्णय के समय ये दोनों स्पष्ट रूप से नहीं कहे जाते हैं। एकही को प्रकाशित करते हैं, और दूसरा मन से छिपा रहता है। इसी छिपी हुई वस्तु में भिन्न २ मनुष्यों के निर्णय में भेद पड़ता है, कोई किसी के साथ, और कोई किसी के साथ कथित वस्तु। (चित्तसंस्कार) को तुलना करते हैं। एकही अनाज को एक बनिया बीस गंडे के सेर से और दूसरा २४ गंडे के सेर से तौले तो दोनों के तौल में अवश्यही भेद जान पड़ेगा, परन्तु यह भेद तभी तक है कि जब तक दोनों सेर का भिन्न २ मान नहीं जानते हैं, अलग २

मान जानने पर फिर कोई सन्देह न रहेगा। इसी प्रकार से दो मनुष्यों में से एक एक चित्तसंस्कार को 'सत्' कहे और दूसरा उसी को 'असत्' तो इसका मतलब यह है कि कर्त्तव्याकर्त्तव्य * श्रेणी में जिस चित्तसंस्कार के साथ पहिला मनुष्य विचार करता है उससे यह कथित चित्तसंस्कार ऊपर है, और दूसरा मनुष्य जिससे उसको तुलना करता है उससे यह नीचे है। ईश्वरदत्त अपने घर और परिवार के आनन्द को त्याग कर परोपकार में रत मनुष्य को बहुत से लोग निन्दा और बहुत से प्रशंसा करते हैं। निन्दा करनेवाले उसके परोपकारक चित्तसंस्कार को तुलना उसके परिवारस्नेह से, और प्रशंसाकरनेवाले दयाजनित आत्महानि से करते हैं॥

(३) जैसे मनुष्यों के अन्तःकरण में एक कार्योत्पादक हेतु दूसरे से कर्त्तव्याकर्त्तव्य विचारश्रेणी में ऊपर रहता है और अतएव उसका अधिकार भी उसके ऊपर रहता है, उसी प्रकार से संसार में जो मनुष्य उच्चस्थित चित्तसंस्कार का अनुसरण करता है वह दूसरों से श्रेष्ठ गिना जाता है। कोई कोई मनुष्य इस संसार में बहुत ऊंचे चित्तसंस्कार के अनुसार कार्य किया करते हैं, कोई उनसे नीचेवाले और कोई और भी बहुत नीचेवाले चित्तसंस्कार का अनुसरण करते हैं। तो अपने से ऊंचेवाले को हमलोग आदरणीय और श्रेष्ठ समझते हैं और उनसे अच्छे उपदेश और उदाहरण की आशा रखते हैं, और अपने से नीचे वाले पर अपना अधिकार जमाते और उनको अपने बराबर बना सकते हैं। कितनाही विरोधी क्यों न हो परन्तु उच्चाशय मनुष्य को देख कर अवश्यही लोग उसको अपने से श्रेष्ठ समझते हैं। इसका कारण यही है कि मनुष्यों में स्वभाव का भेद देख पड़ता है और यह भेद ठीक कार्योत्पादक हेतु की श्रेणी में के

* १ पृष्ठ देखिये।

सापेक्ष अधिकार के भेद के समान है । यदि मनुष्यों के अन्तःकरण में इस चित्तसंस्कार की कुछ्री न रहती तो मनुष्यों के आपस के ऊंच नीच का असल अभिप्राय हमलोग न जान सकते । मनुष्यों के विस्मायुद्रा अथवा पश्चात्ताप को देख कर पशु केवल ध्यानहीन खड़े रहते हैं, क्योंकि वे कर्त्तव्याकर्त्तव्यविचार से हीन हैं।

(४) चित्ताश्रित ज्ञान की युक्ति (theory) से स्वर्ग और नरक का भी विचार सिद्ध होता है जो कि इसके बिना अयुक्त देख पड़ता है। पहिले दृश्य में यह प्रकृतिविरुद्ध और नीतिविरुद्ध देख पड़ता है कि सब मनुष्य केवल दोही श्रेणी—भले और बुरे, ईश्वर के प्रेमी और द्रोही—में बांटे जायँ । मनुष्यों के स्वभाव, प्रेम और द्रोह, भिन्न भिन्न प्रकार के होते हैं। कोई ईश्वर के बड़े भक्त हैं और कोई थोड़े; कोई उनकी थोड़ी अवज्ञा करते हैं, कोई बहुत; किसी का पाप वा पुण्य दूसरे से बहुत अधिक है किसी का थोड़ाही होता है । तब सब मनुष्य केवल दोही वर्ग में नहीं रक्खे जा सकते हैं, पर किसी की अधिक और किसी की कम निन्दा वा प्रशंसा करते हैं । तब ईश्वर ऐसा अन्याय कैसे कर सकता है ? पर सभी देश में सभी काल में, स्वर्ग और नरक का ऐसी विचार देखा जाता है, सो भी केवल गँवार नहीं, वरञ्च बड़े बड़े दर्शनशास्त्र के ज्ञाता भी इसको मानते हैं—इसका क्या कारण ? हम उत्तर देते हैं कि इस वाह्यिकदृष्टि को छोड़ कर अन्तर्दृष्टि से कर्त्तव्याकर्त्तव्यविचार सम्बन्धी बुराई को देखने से यह सन्देह दूर हो जायगा। सत् असत् की प्रकृति हमलोग बाहरी वस्तुओं से नहीं सीख सकते हैं पर अपने आत्म अन्तर्बोध से ही सीखते हैं। इसी की शरण हमलोगों को लेना उचित है यदि हमलोग इस विषय में ईश्वर की इच्छा को सच्ची और मुख्य आकाशवाणी से परामर्श लेना चाहते हैं । अब हम

आकाशवाणी से हमारे प्रत्येक प्रश्न का यही उत्तर मिलता है कि दो विरोधी चित्तसंस्कारों में से एक दूसरे से ऊपर है, एक अच्छा है दूसरा बुरा है; उस समय में जो सबसे उत्तम हो सकता है वह पहिला कहलाता है, और दूसरा, जो सबसे नीच हो सकता है, क्योंकि उस समय में इन दो को छोड़ कर तीसरा नहीं है; एक से ईश्वर का अधिकार और दूसरे से पिशाच का अधिकार हमलोगों पर प्रकाशित होता है। उन दोनों के बीच में बड़ा अन्तर है, असीम और अगम्य खाड़ी पड़ी है; ये दोनों प्रथम और द्वितीय उत्तम नहीं है, पर एक सबसे उत्तम और दूसरा सबसे निकृष्ट है यदि लोभ में पड़े तो उस समय जो कुछ सबसे बुरा होना सम्भव था हमने किया और अतएव बिना रोक टोक के पाप ग्रहण करना होगा। उस समय इससे बढ़कर बुरा और क्या कर सकते थे? यदि यह कहिये कि उससे बढ़ कर और भी बहुतसे बुरे कर्म संसार में है, याद रखिये कि इसके अतिरिक्त उस समय और कोई भी चित्त में विवेचना के लिये उपस्थित नहीं था। क्या झूठ बोलनेवाले का दंड इस ध्यान से कम हो जानाचाहिये कि वह एक के बदले दो झूठ बातें भी बोल सकता था? कभी नहीं, वह अपनी करनी पर पछतावा करेगा कि उसने पिशाच की आज्ञा को अन्तिम सीमा तक पूरा किया और उस ईश्वर के विरुद्ध कार्य किया जिसको वह परम पवित्रात्मा जानता था। यदि यह एक दृष्टान्त में सच है तो सभी दृष्टान्तों में सच होगा, प्रत्येक दृष्टान्त में दो करणीय विषय रहते हैं, जिनके बीच में कोई तीसरा मध्यपथ नहीं है पर यही दोनों उस समय अन्तिम सीमा भले और बुरे की है। इसी कारण से असत कार्य करने में अपरिमेय (वा असीम) पछतावा होता है अपने को क्षमा करने में संपूर्ण असमर्थता होती है, दुष्टता अशोधनीय और पाप अमिल बोध होते हैं। यदि हम लोगों का भविष्यत् इसी एक परीक्षा से स्थिर किया जाय तो इससे

हम लोगों को 'स्वर्ग' और 'नरक' का बोध हो जायगा—स्वर्ग, जिसको हम लोगों ने त्याग दिया और नरक जिसमें अपने को डाल दिया; और द्वैत कल्पना (स्वर्ग और नरक) प्रत्येक लोभ युक्त आत्मा (या जीव) के अन्तरी युद्ध का बाहरी प्रति बिम्ब है। यह अन्त करण का स्वाभाविक विश्वास है जो (अन्त करण) जैसा अनुभव करता है वैसाही विश्वास भी करता है॥

तिसपर भी, यदि हम लोग मनुष्य के संपूर्ण जीवन को एक मान कर उस पर दृष्टि करें, या उसको जाचें, तो देख पड़ेगा कि मनुष्य अपनी अनुयोजनीय अवस्था के आने पर ज़रुरही पूर्वोक्त दो रीति या मार्ग में से एक का ग्रहण कर लेगा। दो में से किसी एक का पक्षा उसको जरूर पड़ जायगा चाहे तो सामने आये हुये सर्वोत्तम चित्तसंस्कार को अभ्यासानुसार चुन लिया करेगा चाहे सामने आये हुये सबनिकृष्ट चित्तसंस्कार को अभ्यासानुसार पसन्द करेगा। केवल यही एक मनुष्यों के स्वभाव (character) का सचमुच बड़ा भारी भेद है। मनुष्यों के स्वभाव के और और अनेक भेद उनके गठन (constitution) से निकलते हैं। ये कर्त्तव्याकर्त्तव्य सम्बन्धी भेद नहीं हैं। इस प्रकार से जब हमलोग मनुष्य के कर्मों को हिताहित ज्ञान की दृष्टि से जांचते हैं और प्रत्येक कार्य को भले और बुरे दो चित्तसंस्कारों में से एक गृहीत वस्तु समझते हैं तब देख पड़ता है कि वस्तुत मनुष्यों में दोही वर्ग हैं और 'स्वर्ग और नरक' का तत्व द्वैत हिताहितज्ञान (या अन्त करण) के अध्यात्म रीति से उपजा है॥ *

इस ऊपर लिखे चार उदाहरणों से कर्त्तव्याकर्त्तव्यविचार सम्बन्धी कल्पना की सत्यता प्रकाशित होती है और अब हम

---

* स्वर्ग और नरक के आन्तरिक तत्व का इस प्रकार अन्त करण से उत्पत्ति का पता लगाने में हम इसके बाहरी रूप या

लोगों को इस सिद्धान्त पर पूरा विश्वास करना चाहिये कि, हमलोगों के कर्त्तव्याकर्त्तव्यविचार सम्बन्धी निर्णय के मुख्य पात्र हमलोगों के कार्यों के निज आन्तरिक उत्पादक हेतु हैं, जब कि वे स्वेच्छापूर्वक ग्रहण किये जाने पर त्याग दिये जाते है; और इस निर्णय की योग्यता हम लोगों को इस अन्तर्बोध से होती है कि इन चित्तसंस्कारों में योग्यता (मोल, मान, worth) का एक सापेक्ष क्रम है, जो हम लोगों को उत्कृष्ट (या अच्छे) को ग्रहण करने और निकृष्ट (या बुरे) को त्यागने के लिये यत्न करता है, और यह जब कभी एक से अधिक कार्योत्पादक हेतु एक साथ प्रत्यक्ष होते हैं, तब अवश्य ही उपजता है ॥

व्यवहार का प्रमाण नहीं देते है पर इसके अन्तरी अभिप्राय का प्रतिपादन करते हैं । पश्चात्ताप में जिससे अपने पापकर्म की अमित अधमता का अनुभव होता है उस अमित अधमता को जब यह कह कर प्रकाशित करते हैं कि अमुक पाप के लिये अनन्त काल तक नरक दण्ड (नरक भोग) सहना पड़ेगा तब निस्सन्देह अतुल परिमाण वाले पदार्थों को तुल्य परिमाणवाले पदार्थों की नाईं एकट्ठा करते हैं । लक्षण (quality) को परिमाण (quantity) में, दोष को प्रकृति या रंग को दुःखभोग के परिमाण में नहीं ला सकते हैं, क्योंकि ऐसा करने से मनुष्यों की केवल अयोग्यता प्रकाशित होती है। मनुष्य के मन की यह सदा प्रवृत्ति रहती है कि आध्यात्मिक विषयों को वैसेही विषयों से तुलना करके कालसम्बन्धी और वेदनीय वस्तुओं से तुलना करे, नैतिक और धर्मसम्बन्धी बातों को काल और स्थान द्योतक शब्दों से तुलना करे और इसी प्रवृत्ति के अनुसार पापकर्म की अतिशय लज्जा को भी लोग अक्षय दुःखभोग के तुल्य मानते हैं। पर सदसदाचार सम्बन्धी अमितता इससे कहीं वास्तविक है ।

द्वितीय अध्याय।

परिणाम दृष्टि (या पूर्व विचार) की युक्ति *

हमलोगों के कर्त्तव्याकर्त्तव्य सम्बन्धी स्वभाव का यथार्थ लक्षण और भी अधिक स्पष्ट हो जायगा जो इसके अन्तस्थित वस्तुओं की कहानी और न कह कर अब उनकी बात कहें जिनको कि यह अपने बाहर निकाल देता है, जैसे कि "परिणामदृष्टि (या पूर्वविचार)"। 'सदसदाचार विषयक निर्णय' और 'परिणामदृष्टि विषयक निर्णय' दोनों यद्यपि उलझ कर एक संग मिल जाना चाहते हैं, तथापि ये दोनों एकही समय परस्पर विरोध और लगाव रखते हैं॥

‡ परिणामदृष्टि विषयक निर्णय के आस्पद या पात्र।

(१) कर्त्तव्याकर्त्तव्य विचार विषयक निर्णय के पात्र 'हम लोगों के आभ्यन्तरिक कार्य्योत्पादक हेतु' हैं, पर परिणामदृष्टि विषयक निर्णय के पात्र 'हम लोगों पर (अपने) कार्य के फल' हैं। कार्य करने जाते हैं उसके लिये क्या जलते रहना पड़ेगा ? या इससे कोई लाभ उठावेंगे ? इस कार्य से या उस कार्य से, हम लोग कम दुःख उठावेंगे, अथवा अधिक सुख पावेंगे ? केवल ऐसेही ऐसे प्रश्न परिणामदृष्टि के विचार में पूछे जाते हैं। सुख, बचाव, हानि, येही सब कार्य के मुख्य फल समझे जाते हैं

---

* Theory of Prudence

‡ आत्म लाभ (वा स्वार्थ) को सबकार्यों का निर्देशक आदि कारण समझ कर उसी (स्वार्थ) की गिन्ती करने को परिणाम दृष्टि कहते हैं। अर्थात यह सोचना कि अमुक कार्य करने से हमें क्या हानि या लाभ होगा।

इसमें उन्हीं बातों का विचार होता है जो इन्द्रिय से जाने जाते हैं। हिताहित ज्ञान के न रहने पर भी हम लोग परिणामदृष्टि विषयक निर्णय कर सकते हैं, पर चेतनाशक्ति (sensibility= या अनुभव करने की योग्यता या सामर्थ) न रहने से नहीं हो सकता है। कर्त्तव्याकर्त्तव्यविषयक बोध के साथ साथ अपृथग्भाव से परिणामदृष्टि विषयक ज्ञान सदा रहता है, पर परिणामदृष्टि विषयक बोध के साथ क० क० बोध नहीं रहता है॥

(२) पार्थों के इस भेद से यह निकलता है कि परिणामदृष्टि पूर्वदृष्टि' का कार्य है, और कर्त्तव्याकर्त्तव्य निर्णय 'अन्तर्दृष्टि' का कार्य है। पहिला 'होनेवाले' कार्य का गुणागुण विचारता है; दूसरा 'प्रस्तुत' कार्य का। पहिला भविष्यत काम्य वस्तुओं का, और दूसरा वर्त्तमान आन्तरिक प्रार्थकों का निर्णय करता है। अतएव ये दोनों 'परीक्षा' (experience) के संग समान सम्बन्ध नहीं रखते। परीक्षा के पहिले पूर्वदृष्टि असम्भव है; बिना परीक्षा लिये हम लोग यह भी नहीं कह सकते हैं कि अपने कार्य का फल क्या होगा। पर अन्तर्ज्ञान (intuition) केवल आत्त ज्ञान है; और इसमें उन आदि कारणों के मन में केवल विद्यमानता और चचलता की आवश्यकता है; जिनका यह (मन) विचार करता है अन्तर्चक्षु सदा खुला रहता है जब तक हठ से स्वयं इसको बन्द न कर ले। परीक्षा (वा पूर्वानुभव) के बिना हम लोग भूल (या चूक) कर सकते हैं पर अधर्म (या पाप) नहीं कर सकते। मनुष्य का यह 'स्वधर्म' (या कर्त्तव्य) है कि वह उचित या सत् चित्तसंस्कार (affection) से कार्य करे; और समुचित मनोरथ (या आशय) (end) का अनुगमन करना केवल उसकी बुद्धिमानता' है। (अर्थात् अमुक रीति से कार्य करने से अपना मनोरथ पूर्ण होगा यह बतलाना बुद्धि का काम है) योग्य, सत्, चित्तसंस्कार

को जानने में मनुष्य को कोई सन्देह नहीं रहता है, पर सत्य चा-शय का अनुसरण करना तुरतही नहीं या सकता है इसके लिये कुछ समय चाहिये। अतएव अधिकांश मनुष्य बुढ़ापे में पूर्वविचार में अधिक प्रवीण होते हैं; पर उनका लड़कपन अधिक निर्दोष, पवित्र, और महात्मयुक्त (noble) रहता है। अन्तर्दृष्टि उन्हीं को बनी रहती है जो इसको उचित रीति से व्यवहार में लाते हैं और इसकी चौकसी करते हैं। विश्वासघातकता (वा छल) से यह अवश्यही निर्बल पड़ जाती और भ्रष्ट हो जाती है और तब इसके बदले में मनुष्य पूर्वदृष्टि की शरण लेते हैं जो अवस्था के साथ साथ बढ़ती जाती है। हिताहितज्ञान दत्तवस्तु है, पर परिणामदृष्टि को जोड़ना पड़ता है॥

(२) परिणामदृष्टि जिन कार्यफलों को पहिले से देखती है वे दो प्रकार के हैं। (अ) प्रथम जिस चित्तसंस्कार (वा हेत, आदि कारणों) से कार्य की उत्पत्ति होती है, उसका व्यक्त खुला (direct) आनन्द (अर्थात उसके पूर्ण होने में आनन्द) और (इ) दूसरा, दूर के परस्पर संलग्न फल जो हम लोगों के चारो ओर के उन पदार्थों से लौट कर आते हैं जिन पर हमारे कर्म का प्रभाव पहुंचा है॥

इनमें से पहिला जो कि हमलोगों को प्रकृति का व्यक्त फल है, सदा अचल और अवश्य भवितव्य है; जब जब उस चित्त संस्कार की परिपूर्त्ति होगी तब तब वही फल होगा। और इसमें आनन्द अथवा शान्ति अवश्य होतीही है, क्योंकि ऐसी कोई इच्छा नहीं है जिसके पूरा करने में सुख के रोक देने से व्याकुलता न होती हो। पर हमलोग पहिले यह नहीं जानते हैं कि वह सुख किस प्रकार का होगा, यह चित्तसंस्कार का स्वभाव है कि हमलोगों को अंधे की नाईं उस कार्य में लगा देता है जिसके प्राप्त करने के लिये यह नियुक्त किया जाता है, प्यास पानी की ओर खींच ले जाती है, पर इसके स्वाद और स्पर्श

जनित अनुभव को पहिले नहीं बतलाता है। किन्तु सुख अवश्य होगा । और चित्तसंस्कार जितनाही अधिक प्रबल होगा उतना ही इसकी पूर्ति पर सुख अधिक होगा । जितनीही प्यास अधिक होगी उतनाही पानी अधिक सुस्वाद जान पडेगा । दुःखिया के दुःख पर जितनीही अधिक दया आपको होगी उसके दुःख दूर होने पर उतनाही अधिक सुख प्राप्त होगा । यह नियम केवल प्रत्येक चित्तसंस्कार को प्रबलता या निर्बलता ही में नही है पर सबके सापेक्ष बल में है । लोभी मनुष्य अपने लाभ में, उच्चपदाभिलाषी ऐश्वर्याकांक्षी अपनी मर्यादा में, या क्रोधी अपने क्रोध में, जितना सुखी होता है, उतना और किसी बात में नहीं । अतएव पहिले प्रकार के कार्यफल के विषय में यह कहना चाहिये कि प्रबलतम चित्तसंस्कारों के पूरा करने में अधिक प्रसन्नता (सुख) मिलती है और जब तक दूसरी विवेचनाओं से शुद्ध न किया जाय तब तक इसीको परिणामदृष्टि का नियम कहना चाहिये । इससे 'स्वधर्म' और 'परिणामदृष्टि' में एक विशेष भेद दिखला सकते है; 'परिणामदृष्टि' स्वयं प्रबलतम चित्तसंस्कार के आधीन होती है और 'स्वधर्म' स्वयं उच्चतम चित्तसंस्कार के आधीन होता है ॥

सहवर्ती सदसदाचार सम्बन्धी निर्णय द्वारा सुधार
वा रूपान्तरकरण ।

'परिणामदृष्टि' की इस व्याख्यान में यह आशंका हो सकती है कि चित्तसंस्कारों के सद्यः आनन्द के अतिरिक्त और परिणामों का भी विचार इसको करना चाहिये । अपने चित्तसंस्कार को सन्तुष्ट करने से प्रसन्नता और रोक देने से दुःख होता है; ये सब कर्मों के (मुख्य) फल हैं । पर हम लोगों के कार्यों के दूर के (वा गौण) फल भी होते हैं। उनके कारण आभ्यन्तरिक सन्तुष्टता या लज्जा होती है, अपने संगी लोग सराहते वा निन्दा करते है, धार्मिक (वा न्यायशील) ईश्वर कुशल करता वा पीड़ा देता

है। ये सब फल केवल हम लोगों के हृदय में, समाज में, और सृष्टि के अनुशासन में सदसदाचारसम्बन्धी नियम के विद्यमानता के कारण होते हैं। यदि सदसदाचारसम्बन्धी नियम न होता तो हम लोगों को अपने कार्यों के प्रधान फलही का विचार करना होता और तब अपने प्रबलतम चित्तसंस्कारों को सन्तुष्ट करना ही सदा दूरदर्शिता समझी जाती। पर यह ऐसा नहीं है; वस्तुधा प्रबलतम चित्तसंस्कार के विरुद्धही वर्तन करना दूरदर्शिता होती है, क्योंकि उस दशा में सदसदाचार सम्बन्धी नियम के कारण गौण (वा दूरस्थ) दुःखदाई परिणाम—जैसे कि पश्चात्ताप, सामाजिक अपमान, ईश्वरदत्त धन और स्वास्थ्य का नाश—मुख्य (वा निकटवर्ती) सुखदाई परिणामों से बहुत अधिक बढ़ जाते हैं। ये दुःखदाई अनुभव केवल सदसदाचार निर्मित संसार ही में हो सकते हैं। ये उस अवस्था के लक्षण हैं जहां पाप की भी गति है। इन बातों के जांचने पर यह निगमन निकलता है कि सदसदाचारयुक्त सृष्टि में जहां पाप की भी गति है और जहां उत्कर्षक्रम का भी अनुभव होता है वहां की परिणामदृष्टि और और अवस्थाओं की परिणामदृष्टि से भिन्न होगी और उसमें नये नये दुःख के मूल मिलेंगे। और 'अधर्म' परिणामदृष्टि' की प्रश्नों में नई नई दशा दिखला कर इसको सुधार देगा; पर 'परिणामदृष्टि' स्वय अपने मूलतत्व से 'अधर्म की रचना नहीं कर सकती है। और प्राणी के समान कर्त्तव्याकर्त्तव्यज्ञान के संग भी हर्ष और खेद होता है। जहां इस हर्ष और खेद की अदण्यगोलता तीक्ष्ण होती है जहां यह हर्ष वा खेद इतना अधिक रहता है कि परिणामदृष्टि को इसका विचार करना आवश्यक है; और उपकारी मनुष्य मूर्ख गिना जायगा यदि वह उपकारी छोड़ कर और कुछ हो। कर्त्तव्याकर्त्तव्य विचार ज्ञान जहां तक कम होगा वहां तक इसका हर्ष और खेद भी कम होगा, और तब इसका विचार नहीं भी कर सकते हैं। और दुष्ट मनुष्य यदि

हितज्ञान युक्त न होने के कारण कोई ऐसा काम करे जो हिताहितज्ञानयुक्त को करना चाहिये तो वह मूर्ख या जड़ नहीं कहा जा सकता है। सज्जन मन जिस बात से दु:खी होता है उस से उस बुरे आदमी को कोई दु:ख न होगा। अपनी अज्ञानता से उसको पश्चात्ताप न होगा। प्रकृतिदत्त शारीरिक दु:ख और मनुष्यदत्त दण्ड को छोड़ कर और वस्तु मनुष्य को अपनी प्रबल इच्छा के अनुसरण में नहीं रोक सकती है। अतएव आत्म-लाभ का ध्यान दिला स्वधर्म कराने का प्रयत्न करना निरर्थक है; सज्जन मनुष्य के लिये यह अनावश्यक है, और बुरे के लिये निष्फल (वा अप्रबल) है क्योंकि झूठ है।

अतएव हमलोगों के सब कार्योत्पादकहेतु (वा चित्तसंस्कार) दो प्रकार की श्रेणी में विभक्त हैं। पहिली सदसदाचारसम्बन्धी श्रेणी जो उत्तमता (वा उत्कृष्टता) के क्रम से रची गई है; और दूसरी परिणामदृष्टि की श्रेणी, जो बलक्रम पर निर्भर है। इनमें से पहिली स्वभावही से, सब मनुष्यों के लिये एक रूप है; पर दूसरी चंचल है, भिन्न भिन्न मनुष्यों के लिये भिन्न भिन्न रूप धारण करती है। कर्त्तव्याकर्त्तव्यविचार का अधिकार सब मनुष्यों पर है; अपनी रुचि चाहे जैसी हो पर यह सदा स्वाधीन और निर्विकार रहता है। परन्तु परिणामदृष्टि अपने चित्तसंस्कार को निज रुचि के अनुसार चुनती है और यथाक्रम रखती है; पर भिन्न भिन्न मनुष्य की रुचि भिन्न भिन्न ढब की होती है यह लोकप्रसिद्ध है, अतएव परिणामदृष्टि भी बदलेगी, और चित्तसंस्कारों की परिणामदृष्टि की श्रेणी भिन्न भिन्न मनुष्यों के लिये भिन्न भिन्न ढब की होगी।

इन बातों से यह सिद्ध है कि आत्म पाप का मूल है और आत्म परित्याग ही ईश्वर से मिलाप (वा संयोग) का एक सरल नियम है'। चित्तसंस्कारों के सर्वव्यापी सदसदाचार सम्बन्धी क्रम के अनुसार न रह कर उनके परिणामदृष्टि विषयक रीति के अनुसार

चलना अर्थात् अपनी स्वकीयरुचि. अपने स्वार्थ का अनुगमन करना पाप है। पर यदि शास्त्र का परित्याग कर अपनी स्वकीय रुचि को छोड़ कर्त्तव्याकर्त्तव्यविचार के अनुसार रहें तो अवश्य हमलोग उस कर्त्तव्याकर्त्तव्यशास्त्र के नियमानुसार चलते हैं जो सर्वव्यापी और अधिकारयुक्त होने के कारण ईश्वरीय भी है- अर्थात् हमलोग ईश्वर की इच्छा के अनुसार चलते हैं ।

ौर पूजा के पृथक् २ वर्गों का प्रयोग होता है; इनकी कामना कर्त्तव्याकर्त्तव्यविचार बोध सदा किया करता है और अन्त में नमें मिल वा लीन हो जाता है। ईश्वर में स्वधर्म और इच्छा दोनों मिले रहते हैं। ईश्वर सदा लोगों का भला किया करता है, पर बुरा भी कर सकता है, यद्यपि ऐसा कभी करता नहीं है; इसी से केवल प्रशंसाही नहीं पर प्रेम और पूजा भी उसकी हम लोग करते हैं। ईश्वर हमलोगों पर प्रेम करता है और दया करता है, इसी से हमलोग भी उसपर प्रेम रखते हैं।

बढ जा सकता है कि सदसदाचार सम्बन्धी विचार को लोप कर दे। प्राप्य लाभ के हेतु आत्म का परित्याग सदा करते करते हिताहितज्ञान रुक जा सकता है; और ऐसा होने पर इन दो प्रिया का भेद अनुभव न हो सकेगा, प्रबल चित्तसंस्कारही उत्तम चित्तसंस्कार जान पडेगा; मनुष्य अपनी रुचि के अनुसार चलेगा। इस विभेद का क्या फल होगा ? मनुष्य की मनुष्यता चली जायगी; वह 'मनुष्य' न रहेगा; या तो वह 'पशु' हो जायगा, या वैतान' (शैतान) बन जायगा। पशु—यदि वह अपने चित्तप्रवृत्ति का अधे की नाईं अनुसरण करे; और पिशाच—यदि वह सुस्थिर विचार से यह सोचे कि किस प्रकार से अपने कार्यों का फल अन्त में आत्म लाभ हो।

(ख) इसके विपरीत कहीं सदसदाचारश्रेणी भी प्रधान हो सकती है और परिणामदृष्टि विषयक श्रेणी को लोप कर दे सकती है । आत्मा को सदसदाचारश्रेणी के आधीन करते करते चित्तसंस्कारों का बल उनके उत्कर्ष से बढ कर नहीं रहने पाता है, और तब उत्तम चित्तसंस्कार प्रबलतम भी होता है । निकृष्ट चित्तसंस्कार इतने रोक में आ जाते हैं कि उत्कृष्ट चित्त-संस्कार के विरुद्ध वे कुछ भी प्रतिबन्ध (या बाधा) नहीं डालते और बलश्रेणी और उत्कर्षश्रेणी में पूरा मिलाप हो जाता है। इस दशा में मनुष्य सदा उच्च चित्तसंस्कार का अनुसरण करता है और आन्तरिक युद्ध की कोई भी सम्भावना नहीं रहती है । वह पवित्रपद पर पहुच जाता है। मनुष्य की इच्छा और ईश्वर की इच्छा एक हो जाती है । जब यह पद प्राप्त हो जाता है तब प्रशंसा और निन्दा व्यर्थ है क्योंकि वे (सराहना और निन्दा) केवल वहीं पाए जाते हैं जहा चित्तसंस्कारों में युद्ध होता है, पर जहा स्वच्छन्दता मिलीही नहीं है अथवा बन्धन से जहा मुक्ति होगयी है वहा इनका प्रयोग होताही नहीं। इस उत्कृष्ट अवस्था में इन भावों के बदले प्रशंसा (Admiration) प्रेम और

ौर पूजा के पृथक् २ वर्गों का प्रयोग होता है; इनकी कामना
ार्त्तव्याकर्त्तव्यविचार बोध सदा किया करता है और अन्त में
नमें मिल वा लीन हो जाता है। ईश्वर में स्वधर्म और इच्छा
े दोनों मिले रहते हैं। ईश्वर सदा लोगों का भला किया क-
ता है, पर बुरा भी कर सकता है, यद्यपि ऐसा कभी करता
नहीं है; इसी से केवल प्रशंसाही नहीं पर प्रेम और पूजा भी
उसको हम लोग करते हैं। ईश्वर हमलोगों पर प्रेम करता है
और दया करता है, इसी से हमलोग भी उसपर प्रेम रखते हैं।

चतुर्थ अध्याय।

कर्त्तव्याकर्त्तव्यविचार सम्बन्धी अधिकार का लक्षण *।

(१) कार्योत्पादक हेतुओं के आपस का सम्बन्ध, जो कि अन्तःकरण के चक्षु से देख पड़ता है बतलाने में बहुत बार "अधिकार" (authority) पद का प्रयोग हुआ है, जो (अधिकार) हम लोग मानते हैं कि उच्चस्थित चित्तसंस्कार का निम्नस्थित चित्तसंस्कार पर रहता है। इसका क्या अभिप्राय है, यह समझ लेना आवश्यक है। "अधिकार" (एक के ऊपर दूसरे चित्तसंस्कार का प्रभाव, दबाव) एक सरल, निराला, भाव (feeling) है जिसके अवयव अलग नहीं किये जा सकते, अर्थात् जिसका विवर्ण (व्याख्या) नहीं हो सकता। सत् (वा कर्त्तव्य) का ज्ञान अनूठा है। हम अधिकार की परख यही है कि इसका हमलोगों को आध्यात्मिक ज्ञान होता है। जब कभी दो विरोधी चित्तसंस्कार आपस में लड़ते हैं तब इसका बोध स्वयं हो जाता है और चिन्ताशील आत्म ज्ञान से यह हो जाता है कि एक चित्तसंस्कार दूसरे पर अधिकार (वा प्रभुत्व दबाव) रखता है, अर्थात् पहिला दूसरे से अधिक अधिक प्रभावयुक्त और गुणयुक्त है।

"निर्बन्ध" वा "भार" (obligation) का आशय अवश्य कर्त्तव्यता वा आधीनो समझना चाहिये जो सत् चित्तसंस्कार और सत् कार्यों में रहता है। यह निराला है। हम लोग इतनाही कह सकते हैं कि सत् कार्य करने के लिये हम पर निर्बन्ध वा भार रक्खा है। यह निर्बन्ध यह सूचित करता है कि जिस काम करने के लिये हम लोगों पर भार रक्खा गया है उस काम

---

* Nature of moral authority

को करने की सामर्थ्य भी हम लोगों को है और जिस काम के करने के लिये हम लोग बद्ध हैं उसके करने के लिये सब लोग वैसेही बद्ध हैं। 'निर्बन्ध' दो अथवा दो से अधिक मनुष्यों के बीच रह सकता है और इस बन्धन का देनेवाला ईश्वर है।

यदि कोई मनुष्य जन्मही से एक दम से एकाकी रह पाया हो, यदि किसी जीव का संग कभी भी उसको न हुआ हो और यदि ऐसे मनुष्य को धर्मके कार्य करने की शक्ति दी जाय तो वह अपने कार्यों का बुरा या अच्छा फल भोगेगा, पर अपने कार्यों के लिये दोष का भागी न होगा और न वह किसीनिर्बन्ध के आधीन रहेगा। जो कुछ अपकार उससे होगा वह उसकी भूल समझी जायगी, न कि दोष; और जो कुछ लाभ वह उठावेगा वह उसकी बुद्धिमानी समझी जायगी, न कि उसका धर्म (वा पुण्य)।

(२) क्या मनुष्य 'निर्बन्ध' के ऊपर जा सकता है?

कर्त्तव्याकर्त्तव्यविचार विषयक नियमों से जितना करने के लिये मनुष्य बद्ध है उससे अधिक क्या कोई आदमी कर सकता है?

ऊपर वर्णित अधिकार के लक्षण से हम लोगों पर ईश्वर के स्वत्व का परिमाण मालूम होता है। यह परिमाण कर्त्तव्याकर्त्तव्यविचार सम्बन्धी अन्तर्ज्ञान के समतुल्य है, अर्थात ईश्वर का अधिकार' जो मनुष्य के कार्यों पर है, हम लोगों को अपने अन्तःकरण से प्रत्यक्ष होता है। इससे अपनी इस मानसिक कल्पना के सदृश कार्य करना ईश्वर का ऋण चुकाना है। इससे कम करने से हम लोग अपने ऋण चुकाने में चूकते हैं और 'गुणाभाव' (वा दोष) के भागी होते हैं। कितनाही यथार्थ रूप से इसके अनुसार चलने पर भी हम लोग केवल अपने 'निर्बन्ध' को पूरा करते हैं और ईश्वर के सामने कुछ भी 'गुणोत्कर्ष' का गौरव नहीं कर सकते। इससे अधिक करने का ई-

श्वर हम लोगों से नहीं चाहते, क्योंकि हम लोगों के लिये इससे अधिक करना सम्भवही नहीं है। पर निज अनुमान के अनुसार कार्य करने में भी कभी २ सन्देह लगा रहता है कि यह (अनुमान) सत्य हो वा न हो, क्योंकि अपनी असावधानी और विश्वासघातकता प्रायः हम लोगों की उच्चकल्पना (ideal) को धुंधला कर देती है। अतएव ईश्वर के साथ कर्त्तव्याकर्त्तव्य विचार विषयक सहानुभूति का सम्पूर्ण भरोसा छूट जाता है और उस शान्ति के लिये जो उग्र हिताहितज्ञान भी नहीं प्राप्त कर सकता है, हम लोगों को ईश्वर पर निःकपट भरोसा और विश्वासयुक्त प्रेम करके उनके आधीन रहनाही पड़ता है।

मनुष्यों से आपस के सम्बन्ध में कुछ दूसरीही बात है; इसमें एक मनुष्य दूसरे के सम्बन्ध में 'गुणोत्कर्ष' प्राप्त कर सकता है। भिन्न भिन्न मनुष्यों के प्रत्येक कृत्य में 'स्वधर्म' का परिमाण (standard) परस्पर एक दूसरे का जाना हुआ रहता है, अर्थात् प्रत्येक कार्य में हम लोग एक दूसरे को उस 'परिमाण' से जांचते हैं जो परिमाण कि हम लोग आपस के कार्यों को विचारने के लिये नियत किये रहते हैं। यदि उस 'परिमाण' से अधिक कुछ करते हैं तो हम लोग दूसरों से अच्छे आचरण के योग्य होते हैं और उनके सम्बन्ध में गुणोत्कर्ष प्राप्त करते हैं। पर यह 'गुणोत्कर्ष' केवल मनुष्योंही के सामने है, ईश्वर के सामने नहीं, क्योंकि इस अधिक कार्य करने के लिये यद्यपि हम लोग मनुष्यों से बद्ध नहीं हैं पर ईश्वर के नियम के अनुसार तो उतना, वरञ्च उससे और अधिक भी करना पड़ेगा। जैसे मनुष्यों के आपस के बर्ताव में 'उदारता' और 'न्याय' समान नहीं है; न्याय स्वधर्म परस्परज्ञात परिमाण का अंग है, पर उदारता नहीं। पर जब यह सोचते हैं कि उदारता के कार्यों को करने के लिये भी ईश्वर से हम लोग बद्ध हैं तो उस दशा में न्याय और उदारता दोनोंही निर्बन्ध के भीतर है॥

(३) 'परिणामदृष्टि' निर्बन्ध के भीतर कैसे आ सकती है ?

यह कैसे होता है कि 'अधिकार' सदसदाचारसम्बन्धी-श्रेणी के अतिरिक्त परिणामदृष्टि विषयक श्रेणी में भी देखा जाता है ? उतावलापन और असावधानता को, केवल मूर्खता और हानिजनकही समझ कर नहीं पर 'असत्' समझ कर, लोग निन्दा करते हैं, यद्यपि ये कर्त्ता को छोड़ कर और किसी की भी हानि न करें। हम लोग इस बात को मानते हैं कि किसी मनुष्य को अवसर और उपाय मिलने पर भी अपने कल्याण वा सुख को तुच्छ वस्तु के ऐसा त्याग देने का अधिकार नहीं है। किसी को ऐसा करते देख कर हम लोग समझते हैं कि वह अपनी इच्छा के अनुसार उस वस्तु के साथ व्यवहार कर रहा है जो उसको विश्वासी जान कर उसके पास धरोहर (वा थाती) रक्खी गयी है। यद्यपि हम लोगों की ऐसी समझ है तौ भी जो कुछ लिखा गया है वह इसके विरुद्ध देख पड़ता है। पूर्व में लिख आये हैं कि यदि किसी मनुष्य में केवल परिणामदृष्टि विषयकही श्रेणी हो और चित्तसंस्कारों में केवल बलही का भेद और विवाद हो, तो उसमें सदसदाचारविषयक बोध का कोई स्थान न रहेगा, अर्थात उसको यह ज्ञान न होगा कि कौन चित्तसंस्कार सत् है और कौन असत्। अब ये दोनों कथन कैसे सम्मत हो सकते हैं ?

यदि हम लोगों को हिताहितज्ञान न होता, पर केवल जानवरों की नाईं अपने कार्य के आनन्ददायक और दुखदायक फल और प्रबल निर्बल शक्ति का भेद जानते तो 'स्वधर्म' और 'निर्बन्ध' कोई वस्तुही हम लोगों के लिये न होती; यदि किसी प्रबलशक्ति को रोकते, कार्य के आनन्ददायक फलों को त्यागकर दुखदायक फलों को लेते तो हम लोग केवल अनाड़ी समझे जाते, पर अपने 'कृत्य' को न करने के दोषी न समझे जा सकते पर ज्योंहीं हिताहितज्ञान और इसके आश्रित भावों का अपने

मन मे रहना स्वीकार करेंगे त्योंही समूची बात बदल जायगी। अन्तःकरण के द्वारा जाना जाता है कि हम लोगों के चित्तसंस्कार कोई सत् और कोई असत् है और संसार का सदसदाचार सम्बन्धी अनुशासक ईश्वर है जो हम लोगों के चित्तसंस्कार को सदसदाचार सम्बन्धी क्रम में रखता है । ईश्वर का यह अधिकार सर्व सम्बन्धी है, और सत् और असत् का भेद सब स्थान में अपना अधिकार जमाता है; केवल चित्तसंस्कारोंही में नहीं, पर प्रत्येक चिन्ता (ख्याल) और संसार के प्रत्येक कार्य में इसका प्रयोग अवश्य होना चाहिये । अतएव अपने कार्यों के हेतुओं की विवेचना करना और दो विरोधी चित्तसंस्कारों में से उच्चस्थित चित्तसंस्कार का अनुसरण करनाही हम लोगों का मुख्य कृत्य (स्वधर्म) है पर हिताहितज्ञान के ध्यान से कार्यों के फलों की विवेचना करना और शुद्ध रीति से चुने हुए अच्छे चित्तसंस्कार को परिणामदृष्टि से कार्य या व्यवहार में लाने का उद्योग करना भी हम लोगों का 'कृत्य' है इन कारणों से और इस प्रकार से "परिणामदृष्टि' निर्बन्ध' के भीतर आ सकती है।

"जैसा मैं चाहूं वैसा क्यों नहीं कर सकता हूं ?' इस प्रश्न के पूछनेवाले का सम्पूर्ण स्वभाव आदरकारी (reverential) और धर्मशील (वा विवेकी–conscientious) स्वभाव से सब प्रकार से विजातीय है, और इस कारण वह इसके अवर्त्तमानता का लक्षण समझा जाता है और कोई प्रत्यक्ष उल्लङ्घन (वा अपराध) न करने पर भी सम्भवनीय असीम अधर्मता (वा दोष) कह कर दूषित होता है॥

———

पञ्चम अध्याय।

कार्य्योत्पादक हेतुओं का श्रेणी-विभाग।

आध्यात्मिक क्रम।

अब यहां पर उन कार्य्योत्पादक आदिकारणों की श्रेणी लिखना आवश्यक देख पड़ता है जिनका कि अन्तःकरण विचार करता है। यदि यह सच हो कि प्रत्येक सदसत् के निर्णय में कोई एक चित्तसंस्कार अपने प्रति विरोधी से उच्चमूल्य का गिना जाता है तो प्रत्येक चित्तसंस्कार का सापेक्ष मूल्य बाकी चित्त-संस्कारों की तुलना में निश्चय कर लेना चाहिये और इन निर्णयों के समूह को एक क्रम में एकत्र करने से कर्त्तव्याकर्त्तव्य सम्बन्धी निर्बन्ध की एक सारणी हम लोगों को प्राप्त हो जायगी जो हम लोगों की भिन्न प्रवृत्तियों के भीतरी उत्कर्षता के अनुसार क्रमबद्ध है। इन चित्तसंस्कारों के परस्पर संयोग के बहुत उलझावे से उक्त रीति की सारणी बनना अनिश्चय और दुस्साध्य हो जाता है, तौभी इसका उलझावा बहुत बड़ा नहीं है, केवल इसके असाधारण (वा अनोखे) आकार के कारण लोग साहसशून्य हो जाते हैं। यद्यपि इस बात को मैं अच्छी तरह से जानता हूं कि निम्न लिखित ढांचा केवल परख के हेतु है तो भी इसके निवेदन करने में मैं न रुकूंगा यदि यह केवल इसकी युक्ति की जांचही है।

इस बात को जान कर कि मनुष्य को पहिले बोध और तब आत्म बोध होता है और दोनों अवस्थाओं में उद्योगी चित्तप्रवृत्तियां रहती हैं, मैं दो प्रकार के प्रेरक आदि कारणों के भेद से प्रारम्भ करता हूं। (१) वे मूल कारण जो अचिन्तित स्वाभाविक ज्ञान (unreflecting instinct) के तौर पर मनुष्य को ठीक

योग्य (वा स्वकीय) विषय की ओर ठेलते हैं । और (२) वे मूलकारण जो बाह्य बोध और अनुभव के अनन्तर आते हैं और जिनमें किसी पूर्वपरिचित अनुभव के पुनरानन्द उठाने की इच्छा पहिले से सोची हुई रहती है । पहिले को "मुख्य" और दूसरे को "गौण" कार्योत्पादक हेतु (वा मूलकारण) कहते हैं. ये शब्द विशेष करके ठीक (योग्य) हैं, क्योंकि ये केवल गिनती ही का क्रम नहीं, पर उत्पत्ति का क्रम भी बतलाते हैं। "गौण" चित्तसंस्कार सम्पूर्णरूप से नये नहीं हैं, पर ये बाह्य अन्त:बोध के प्रभाव वा व्यापार से रूप बदले हुए "मुख्य" ही हैं और भिन्न दल बांधना चाहते हैं क्योंकि बाह्य-अन्तर्बोध के व्यवहार से इनके आद्य (वा पहिले) आकर और सदसदाचार सम्बन्धी स्थान बहुत बदल जाते हैं ।

कोई २ कहते है कि बिना प्रसन्नता की इच्छा के मनुष्य किसी कार्य को नहीं प्रारम्भ करता है । पर ऐसा होने से, बिना पहिले प्रसन्नता (वा आनन्द) का अनुभव कियेहुए कोई मनुष्य उसके पुनर्प्राप्ति की इच्छा कैसे कर सकता है ? और यदि पूर्वानुभव का होना अत्यावश्यक सिद्ध है, तो बिना कार्य किये हुए किसी 'मनुष्य' को किसी कार्य के परिणाम का अनुभव कैसे होगा ? मनुष्य तो निर्जीव पदार्थ है ही नहीं कि अचल बैठा रहेगा और बाहरी पदार्थ उसको जगाने के लिये सुख या दुख देते रहेंगे। क्या वह इस संसार में सजीव बना कर नहीं भेजा गया है ? और क्या सजीव प्राणी का यह लक्षण नहीं है कि उसमें वे शक्तियां हों जो उसका सांसारिक मार्ग नियत करें और यह भी निश्चय करें कि उसमें कौन २ सा कार्य उसके योग्य हैं। अनुभव-तत्त्वज्ञानियों को यह याद रखना चाहिये कि बिना स्वाभाविकज्ञान (वा पशुबुद्धि) सम्बन्धी शक्तियों में किसी प्रकार की परीक्षा वा अनुभूति (experience) नहीं हो सकती है । इस संसार में जहां आहार स्वयं मुंह में नहीं पड़ जाता है और जल

होत ओठ तक नहीं आजाता है, और जाड़े के झकोरे में न तो कम्बल स्वयं देह को ढांप लेता है और न ग्रीष्म की गरमी में वह स्वयं देह पर से गिर पड़ता है। अतएव यह निश्चित है कि हमलोग पहिले कार्य करते हैं और तब अपने कार्य को सुखद या दुःखद समझते हैं। हमलोगों को स्वाभाविक प्रकृतिही अपने योग्य वस्तुओं को स्वयं खोज लेती है और कार्य करती है; यदि आन्तरिक तेज इसका कारण न होता तो सांसारिक वस्तु सुखद न बूझ पड़ती। जैसे कि आहार भूखेही को सुस्वादु बूझ पड़ता है अतएव सर्वत्र प्रवृत्तिही सुख की पूर्व दशा (वा नियम) है, न कि सुख प्रवृत्ति की।

अतएव मनुष्यों में "मुख्य" कार्योत्पादक हेतुओं का रहना निश्चय है, जो मनुष्यों को बिना पूर्वदृष्टि या आत्म-अन्तर्बोध के योग्य वस्तुओं की ओर प्रेरणा करते हैं। क्षुद्र जन्तुओं को स्वाभाविक ज्ञान (Instinct) रहता है जो बिना पूर्वदृष्टि के उन कार्यों को करने में उन्हें प्रवृत्त करता है जो उनके जीवन और कल्याण (सुख) को दृढ़ करते हैं। जीवन और कल्याण के मुख्य नियमों के विषय में मनुष्य ठीक क्षुद्र जन्तुओं के सदृश है। अतएव यदि यह कहें कि मनुष्य का कोई भी कार्य पशुबुद्धि के प्रभाव से नहीं होता है, तो इससे मनुष्य और अपर जन्तुओं में की पूर्वोक्त सदृशता निःप्रयोजन ही टूट जाती है। पक्षी ज्योंहीं अंडे के बाहर आते हैं त्योंहीं अपने आहार के योग्य कीट या दाना चुनलेते हैं; तितली जन्मतेही फूलों पर जा बैठती है जिन के रस का कोई पूर्वज्ञान इनको नहीं हो सकता है। प्रत्येक प्रकार के जीव अपने अहेर (prey) के जीवों को और उन जीवों को जिनका कि वह स्वयं अहेर हो सकता है, बिना पूर्वानुभव के जान लेते हैं। क्योंकि मनुष्यों को भी वैसीही शक्तियां होती हैं इससे यह सिद्ध है कि मनुष्यों के थोड़े कार्य पशुबुद्धि के अनुसार भी होते हैं जो पशुबुद्धि उनको स्वाभाविक, पर अपरो-

स्थित, फललाभ के पथ पर रखदेती है। जान पड़ता है कि मनुष्य का समग्र स्वभाव और सारा जीवन क्षुद्र जीवों से भिन्न नहीं होता है, पर मनुष्यों को पशुबुद्धि के अतिरिक्त और भी शक्तियां रहती हैं जो उनके पशुबुद्धि के कार्यफलों को प्रौढ़ वयस में भिन्नरूप कर देती हैं।

पशुबुद्धि वा स्वाभाविकज्ञान (Instinct) का कर्म अज्ञात है पर इसका स्पष्ट बोध होना असम्भव नहीं है। यह तर्क और अभ्यास से न्यारा है। इसमें फलप्राप्ति के हेतु उपाय किया जाता है पर उस फल का कोई पूर्वज्ञान नहीं रहता है। अतएव पशुबुद्धि विषयक चित्तसंस्कार वही है 'जो पूर्वानुभव हीन फल की प्राप्ति के हेतु आप से आप उपाय ठहराता है'। यह 'अभ्यास' से भिन्न वस्तु है क्योंकि इसमें कोई मनोरथ नहीं रहता है; और 'इच्छा' से भी न्यारा है क्योंकि दो विषयों में से कोई एक के पसन्द करने का अधिकार भी इसमें नहीं है॥

(१) "मुख्य' चित्तसंस्कार।

"मुख्य" चित्तसंस्कार (वा कार्योत्पादक हेतु) चार प्रकार के हैं। यथा—

(१) प्रवृत्ति— (अ) क्षुधा, (इ) संभोगेच्छा, (उ) स्वच्छन्द अंगविक्षेप।

'प्रवृत्ति'--प्रकृति की प्रेरक शक्ति है। ये (प्रवृतियां) जीवन की रक्षा और मनुष्यजाति की स्थिति के लिये अत्यावश्यक हैं। इनके बिना मनुष्य जीवन धारण नहीं कर सकता है। ये मनुष्यों की प्रथम आवश्यक वस्तु हैं। ये गिनती में तीन हैं, क्षुधा संभोगेच्छा, और स्वच्छन्द अंगविक्षेप। इन में से पहिले दो "इन्द्रियजनित इच्छा" के नाम से प्रसिद्ध हैं और सम्पूर्ण इन्द्रियधारी जीवों के, यहांतक कि वनस्पतियों के भी उपयुक्त हैं। जिन प्राणियों में पोषण और बढ़न्ती (या नवोनोत्पत्ति) की आवश्यकता है, उनके लिये ये या इनके समान विषय अति आवश्यक

है, भत्याज्य है । पहिली दो प्रवृत्तियां इन्द्रियधारियों से जैसा सम्बन्ध रखती हैं वैसाही सम्बन्ध तीसरी प्रवृत्ति (स्वच्छन्दअंगविक्षेप) प्राणधारियों से रखती हैं। यह अंगविक्षेप की स्वाभाविक प्रवृत्ति है, जो मांसशिरायुक्त शरीर से पृथक् करने के योग्य नहीं है। बीच २ में इसमें विश्राम भी लेना पड़ता है। केवल शारीरिकही नहीं पर मानसिक शक्ति में भी यह प्रकाशित होता है और प्रति शक्ति के प्रयोग में इसका आनन्द अनुभव होता है, जैसे, दृष्टि को बुरी वस्तु की ओर से दूसरी ओर लेजाने में या टेढ़े हाथ को सीधा करने में या बहुत देर बैठने के बाद उठकर चलने में वैसेही एक विषय को त्यागकर दूसरे विषय के सोचने में इत्यादि।

यह स्पष्ट है कि ये प्रवृत्तियां यथार्थ में "मुख्य" (primary) और अत्यावश्यक हैं, ये हमलोगों के प्रकृति की अन्तर्जात (वासहज) शक्तियां हैं और इनमें पूर्वानुभव या शिक्षा की आवश्यकता नहीं है।

(२) मनोविकार— (अ) घृणा, (इ) भय, (उ) क्रोध।

चित्त संस्कारों का दूसरा वर्ग 'मनोविकार" है। ये कार्योत्पादक हेतु हमलोगों की प्रकृति की आवश्यकताओं से नहीं उपजते हैं वरञ्च दूसरों के हाथ से हमलोग जो कुछ दुःख सहते हैं उन्हीं से उपजते है, और ये सदा दुःखमय और बखेड़ा और अपकार के अनेक मूल हैं। अतएव इनकी ओर मनुष्य की सदा अप्रीति का भाव होता है—हानिजनक और बेमेल वस्तुओं को हटाना, या स्वयंही उनसे अलग हट जाना, धमकी देने वाले और आक्रमण करने वाले विषयों से अपने को बचाने के लिये और अपने नियुक्त जीवन के असंगत विषयों को दूर हटा देने के लिये ये सामग्री है। ये तीन हैं और काल के तीन विभागों (वर्त्तमान भविष्यत व भूत) के अनुसार विभक्त है। जो वस्तु स्वाभाविक विरोधी हैं वे यदि सामने आवे तो उनके प्रति 'घृणा'

होती है; जो तुरत हमारा अपकार करचुके हैं, उनपर 'क्रोध' होता है; और जो हमारी बुराई करने को धमकाते हैं, उनसे 'भय' होता है। ये सब यथार्थ "मुख्य" और स्वभावप्रेरित चित्तसंस्कार हैं और दुःखमय और अप्रिय वस्तुओं की परीक्षा के पहिलेही व्यापार में आते हैं, यद्यपि अनुभव होने पर इनकी क्रिया और और वस्तुओं पर भी होजाता है। जैसे कि भय; यद्यपि अनुभव होने से बहुत वस्तुओं से भय उपजता है पर तो भी अपनी प्रथम अवस्था में यह (भय) अदृष्ट आपत्ति का यथार्थ भाविदर्शक पूर्वोपदेश (वा पूर्व प्रबोध) है। इसके अनेक दृष्टान्त हैं कि मनुष्य और दूसरे २ जीव दोनोंही भयंकर वस्तु को प्रथम दृष्टि में, बिना भय के कारणों को जाने हुए, भयभीत होने लगते हैं जैसे—भेड़ों के झुंड जो अब तक विघ्नों से बचे हुए हैं, हुंड़ार को देखतेही चारों ओर भागने लगेंगे, और दूसरे बाज को देखकर सब मादीन चिड़ियां अपने २ बच्चों को अपने डैने के नीचे छिपा लेती हैं, और दूसरे२ पक्षी भी भय खाने लगते हैं जोकि उनको पहिले कभी भी नहीं सिखलाया गया है। यद्यपि मनुष्यों को दूसरोंही के चिताने पर अथवा अपनी बुद्धि से बहुत से विघ्नों का ज्ञान होता है पर तो भी पशुबुद्धिजनित (या सहजज्ञानप्रयुक्त) भय के उदाहरण भी मिलते हैं। जनमतुआ बच्चे को दूरतक ऊंचा लोकाने से वह भय प्रकाश करता है जो सब लोग जानते हैं, पर इस भय का कारण हाथ पैर टूट जाने की भावना बतलाना अयुक्त होगा। क्रोध भरे मुंह को, अथवा लाल २ आंख किये जंगली जानवरों को देख कर लड़का डर जायगा जिसने कि इन भय के चिन्हों को कभी भी पहिचानना नहीं सीखा है। पहिले पहल जो समुद्र में आता है वह हिलकोरे और टक्कर से कांपने लगेगा। ये सब अनुभव निस्सन्देह निश्चित हैं पर हम समझते हैं कि इनमें वे मूल सूत्र पहिलेही से रहते हैं जिनके द्वारा दूसरे जन्तुओं की नाईं

मनुष्य में भी सहजज्ञानप्रयुक्त भय प्रकाशित होता है जो मनुष्य को आत्म चिन्ता के बिना ही आत्म रक्षा के लिये मार्ग दिखलाता है।

'क्रोध' में प्रायः ज्ञानशक्ति का न रहना प्रत्यक्ष ही है। फल के बिना विचारे ही क्रोध उपज आता है; बिना विवेचनाही के यह अपकार करने वाले विषय की ओर अपने को प्रकाशित करता है, चाहे वह विषय सजीव हो या निर्जीव, प्रौढ़ वयस में भी, जब कि आत्मरक्षा के उत्तम२ उपाय प्रस्तुत रहते हैं, यह बहुत काल तक मनुष्यों को विस्मय में डाले रहता है और अपनी निवेदनाओं (suggestion) से बहुत व्याकुल करता है (वा क्लेश देता है) और दुष्टता के सबही प्रकार के विचारशीलज्ञान का इसका दबाना (वा जीतना) ही न कि उत्पन्न करना स्पष्ट कार्य है; इन बातों से इसका स्वभावप्रेरित लक्षण हमलोगों के प्रबोध (वा विश्वास) में अवश्यही आकर जमजाता है। हानिकर्त्ता के संग अपना सम्बन्ध बिना विचारे ही हुए प्रत्येक प्रकार के बाधा और अपकार के विरुद्ध यह एकाएक उठखड़ा होता है।

अबतक जो कुछ कहा है इससे और विशेष करके प्रकृति का इतिहास देखने से यह प्रत्यक्ष होगा कि यहांतक केवल पशुप्रकृति के अतिरिक्त मनुष्यस्वभाव के विशेष लक्षणों का विषय नहीं लिखा गया है। इसमें से एक भी चित्तसंस्कार 'मनुष्य' से आवश्यक (वा अनिवारणीय) सम्बन्ध नहीं रखते हैं; ये सब 'पदार्थ' से सम्बन्ध रखते हैं; वे पदार्थ सजीव हो सकते हैं, पर इससे अधिक नहीं। यह आप कह सकते हैं कि इनमें से बहुतेरे मनुष्य समाज में अपना प्रधान कार्य करते हैं पर यह आवश्यक नहीं है; यदि हमलोगों में-से मनुष्यत्व निकाल लिया जाय तो भी इन को हमलोगों में वर्त्तमानता छूट नहीं जायगी। पर अब आधे दूर पर, आधे चित्तसंस्कारों का वर्णन करने पर, हम उस स्थान में पहुंचे हैं जहां से आगे शुद्ध मनुष्य स्वभाव का वर्णन होगा।

उद्योगी (active) चित्तसंस्कारों में से दो वर्गों की व्याख्या बाकी है; इनमें से पहिले में यद्यपि क्षुद्रजन्तुओं से कुछ सम्बन्ध पाया जाता है तौ भी मनुष्यत्व (personality) का विशेष तत्व इनमें इतना प्रबल रहता है और मनुष्य के साथ रहने वाले पशुओं में पाये जाने से इनको इतना ऊपर चढ़ाता है कि इन (चित्तसंस्कारों) के वर्णन करने में हमलोगों को यह मानना ही पड़ेगा कि अब सीमा के पार हो रहे हैं, क्योंकि 'मनुष्यहीन लोक' में इन चित्तसंस्कारों का यथोचित (वा शुद्ध) बोध (वा भाव) और परिचय न होगा।

(३) स्नेह—(अ)मातृपितृसम्बन्धी स्नेह, (इ) संसर्गिक स्नेह, (उ) करुणा (वा अनुकम्पक स्नेह)।

मुख्य कार्योत्पादक हेतुओं के तृतीय वर्ग में भिन्न भिन्न प्रकार के 'स्नेह" हैं। इनमें आकर्षकशक्ति है; ये हमलोगों के चित्त को दूसरों की ओर खींचते हैं। जीवधारियों का सामने रहना कि जिससे अपने वर्ग का ध्यान आवे इनकी उपजने के लिये आवश्यक है चाहे वे जीवधारी उसी वर्ग के (अर्थात मनुष्य) हों या न हों। "मनोविकार" में इसकी भी आवश्यकता नहीं थी। केवल विरोधी वस्तु के सामने आने ही से यह उपजता है पर हां इन विरोध वस्तुओं में भी जीव की आभा उस समय मान लेते हैं। जैसे २ कार्योत्पादक हेतुओं की क्रमशः गणना कर रहे हैं वैसे२ उच्च २ वस्तुओं (या आसरों) की आवश्यकता होती जाती है। "प्रवृत्ति" में चित्त से खोजे जाने पर बाहरी वस्तु मिल जाती थी। "मनोविकार" में यह क्रम उलट गया, यह आक्रमण करनेवाली वस्तु के आने से उपजता था, पर उन वस्तुओं को उस समय जीवित के ऐसा मानलेने ही से काम चलजाता था। परंतु 'स्नेह' इससे भी सन्तुष्ट नहीं होता है। इसके लिये मनुष्यों के समान शरीरधारी जीवों का रहना अपरिहरणीय है (या अत्यावश्यक है)। कम से कम, मनुष्य के सदृश जीवों का रहना, (जो

कि एक प्रकार से मनुष्य समझे जासकते हैं) तो आवश्यक ही है। पर इनमें स्नेह का व्यापार केवल मौलिक ही भर देखा जाता है। बिना मनुष्यलोक में आये हुए इनका संघा बोध नहीं होने पाता।

"स्नेह" तीन प्रकार का होता है। इनमें से पहिला, जिसमें मनुष्यत्व की आवश्यकता और सभों से बहुत कम है; "मातृपितृ स्नेह' है; जिसके नियम ये हैं कि जिन जीवों पर यह दिखलाया जाय वे (१) हमलोगों के आधीन हम लोगों के सारतत्व का प्रतिरूप (या प्रतिमा) हों और(२)हमलोगोंके आश्रित (या पाधीन) हमलोगों के जीवन (या स्थिति) का अनुक्रम हों। यदि इन दोनों मूलसूत्रों में से एक भी अनुपस्थित हो, यदि सन्तान मानवी हो पर अपना न हो, या अपना तो हो पर वह मनुष्य न हो; तो पहिले दृष्टान्त में यह स्नेह घटकर केवल बच्चों के प्रति साधारण दया या प्रीति भर रह जाता है; और दूसरे में यह भाव उलटकर घृणा, या भय, या त्रास, हो जाता है। यह बात क्षुद्रजन्तुओं में इसका कार्य देखने से प्रत्यक्ष है। बालक पर माता का स्नेह और पिता का स्नेह तुल्यही होता है, यदि कहीं माता में इस का अंश अधिक देखाजाय तो इसका कारण यह जानना चाहिये कि उस सन्तान का पालन माता पर अधिक निर्भर है। जहां दोनों पर यह अधीनता बराबर रहती है, जैसे कि पक्षियों में, वहां दोनों पर सन्तान की रक्षा का भार भी बराबर रहता है। अतएव माता पिता के स्नेह में भेद का कारण इसकी घटती बढ़ती होना नहीं है, वरञ्च, इसके उपजने के पूर्वोक्त दो नियमों में से, माता का स्नेह इस ध्यान से सन्तान पर होता है कि वह "माता पिता के जीवन का पराधीन अनुक्रम" है, (continuation) और पिता का इस ध्यान से कि वह "माता पिताके सारतत्व का स्वतंत्र प्रतिरूप (या प्रतिमा) " है। इस स्नेह की दो भिन्न२ सूचक रीति और क्रिया एक दूसरे को पूरा करती है और

घर (वा गृहस्थाश्रम) में स्त्री और पुरुष का यथायोग्य सम्बन्ध स्थिर करती है—माता घर की वस्तुओं से मेया करती है, और पिता बाहरी वस्तुओं से; माता बच्चे की सहायताकांक्षी (अर्थात दूसरे ही पर निर्भर रहने की) अवस्था ही को रखना चाहती है * पिता बच्चे की बढ़ती हुई स्वतन्त्रता से प्रसन्न होता है; माता अपनी सन्तान के बचपन बीत जाने का खेद प्रकाश करती है, पिता जवानी के आने के लिये अधीर रहता है कि जब उसकी (individuality) व्यक्तिता जम जायगी (स्थिर हो जायगी) और प्रतिमा (वा प्रतिरूप) पूरी तय्यार होजायगी। यह स्नेह किसी दूसरे से नहीं निकला है पर स्वयं मूलरूप है। यह क्षुद्रजन्तुओं में अधूरे रूप से देखपड़ता है। मनुष्य में आत्मबोध और बुद्धियुक्त प्रकृतिके होनेके कारण यह उनसे कुछ रूपान्तर होजाता है पर इसके मूल (वा सार) शक्ति को उठा नहीं देता है।

द्वितीय प्रकार का स्नेह "संसर्गिक स्नेह" है। यह अपने सदृश और तुल्य मनुष्यों के प्रति होता है; पर सम्पूर्णरूप से तुल्य होने से भी काम न चलेगा, कुछ भेद और असमता अवश्य चाहिये, और जैसे कि अपने परिवार में आपस के प्रेम के लिये बल और निर्बलता, पराक्रम और सौन्दर्य, (रक्षा पाने की आशा से) ऊपर देखना और (रक्षा करने की सामर्थयुक्त इच्छा से) नीचे देखना (अर्थात बड़ों से आशा करना और छोटों की रक्षा करना) इत्यादिक मिलावट अत्यावश्यक (वा तात्विक) है; उसी प्रकार से, बड़ी मंडली में, वास्तविक प्रेमबंधक कारण एक दूसरे के घटी का पूरा करना ही है; निःसन्देह, पुरुष और स्त्री, स्याने और लड़के, के प्रेम में असमता एक आवश्यक अंश है, और इस

* इस देश में प्रायः देखा जाता है कि स्त्रियां अपने लड़कों को बचपन में खेलते देखना अधिक पसन्द करती हैं यहां तक विवाहादिक उत्सव भी उसी अवस्था में करनाचाहती हैं, इसका कारण एक यह भी मालूम होता है।

में कोई सन्देह नहीं देख पड़ता है कि वैसी ही घटी पूरी करने की आवश्यकता साधारण मनुष्य सम्बन्ध में भी है। हां इनमें इतना भेद तो है कि घरेलू सम्बन्ध में असमता या भेद प्रधान और मूल तत्व है जो कि प्रकृति की समता के भीतर मनोहर आश्चर्य (वा चमत्कार) डालता है, सामाजिक सम्बन्धों में संगति (या सहवास) या सहायता ही दया का नेव (या जड़) डालता है और सब विरोधी विषयों में एक प्रकार की एकता पैठाता है। पहिला 'भेद' पर स्थिर रहता है और दूसरा 'समस्तता' (या अखंडता) पर; यद्यपि इनमें से कोई भी बिना दूसरे के नहीं रह सकता। घरेलू और सामाजिक सम्बन्ध एक दूसरे को पूरा करते हैं; तिसपर भी ये दोनों स्वतंत्र हैं; और एक दूसरे से नहीं उपज सकता; ये दोनों एक दूसरे के विरोधी हैं। बहुत ही कम आदमी ऐसे मिलेंगे जो अपने परिवार और साथी दोनों ही पर पूरा प्रेम रख सकते हों और जो घरेलू प्रेम के खिंचाव को बिना कम किये ही अपने बराबर के लोगों पर (अर्थात संगियों पर) पूर्ण (बहुत) स्नेह रक्खें।

"भाषा" (या बोली) जो आन्तरिक विचार और अनुभव के कहने और जानने का स्वाभाविक ज्ञान है इस करुणायुक्त अन्तर्बोध का चिन्ह है और यह सांसारिक सन्देह कहां तक फैलता है इसका यह सर्व-कालिक परख (परीक्षा) भी है। यह भाषा परस्पर ज्ञान का जितना ही अधिक पथ बनाती जाती है ठीक उतनी ही अधिक शक्ति से सर्गिक भाव अपना अधिकार प्रकाश करता जाता है। विदेशी भाषा प्रायः स्वभाव को भी बिलग करती है अर्थात विदेशी भाषा बोलने वाले लोगों से स्नेह प्रायः नहीं होने पाता है; यहां तक कि एक देश वा जाति के लोगों में भी जो एक प्रकार की बोली एक समूह के लोगों को दूसरे समूह से पृथक करती है वह उन मनुष्यों के स्नेह और मेल की सीमा बतलाती है। मैथिल और महाराष्ट्री बोलने

में वह स्नेह होना कठिन है जो मैथिल बोलने वालों में भापुस में हो सकता है भतएव भाज कल प्रत्येक गांव को बोली भिन्न २ हो जाने से प्रायः देखा जाता है कि एक गांव के लोग दूसरे गांव वाले से पूरा स्नेह नहीं रख सकते। शब्दों में यह शक्ति रहने का कारण यह है कि हमलोगों को मनुष्यता की कल्पना (Ideal of hum mity) से जो मिला रहता है उस से सहानुभूति भौर जो उससे विरोध रखता है या भिन्न होता है उससे घृणा होती है। इसी कारण से शब्द हेल मेल पैदा करता है या घिन वा चिढ़) दिखाता है। भौर स्नेह भौर घृणा का सजीव विषय देख पड़ता है। भतएव संसर्गिक स्नेह वही है जो हमलोगों के स्वभाव (वा-प्रकृति) की एकता के ज्ञान से उपजता है।

तीसरे प्रकार का स्नेह " करुणा " है जो दूसरे की विपत्ति (पीड़ा) देख कर उपजती है। इसकी शीघ्रता (फुर्ती) भौर व्यग्रता ही से इसका स्वभाव प्रेरित होना दृढ़ रूप से प्रमाणित है। लड़कपन में भौर जवानी में, सभ्य मनुष्यों में भौर वैसेही जंगली लोगों में यहां तक कि. जानवरों में भी जिन में मनुष्य स्वभाव (वा मनुष्यत्व) भागया है, सभी में केवल विपत्ति देखने ही से यह तुरत उपजती है भौर प्रथम क्षण में जितनी उग्र (या प्रचण्ड) देख पड़ेगी उतनी फिर नहीं। यह किसी स्वार्थ से नहीं उपजती हैं। यदि कहिये कि दूसरे के दुःख को मानो भपना समझ कर लोग उस पर करुणा या दया प्रकाश करते हैं पर तौ भी भपने को दूसरे के स्थान में रख कर इसका भनुभव करते हैं इस लिये इस कारण का पात्र वही दूसरे के स्थान में रखी हुई भात्मा है भौर न कि वह भात्मा जो कि सदाः भपने शरीर में उपस्थित है। दूसरे के दुःख को जिस समय भपना समझ कर हम शोक प्रकाश करते हैं उस समय भपने को हमलोग भूल जाते हैं भौर सामने खड़े हुए दूसरे जीव की रक्षा करने को दौड़ते हैं। यह भी जानना चाहिये कि यह कोई बात नहीं है

कि जिस दुःख का अनुभव स्वयं न हो चुका हो उसका लक्षण दूसरे में देख कर हमलोग उसे न समझ सकें और हमारे मन में कुछ न आवे। सच यह है कि जो कोई बोध हमलोगों को गमनीय है अर्थात् जिसको समझने या अनुभव करने की शक्ति हमलोगों में है उसका भाव हमलोग उसके स्वाभाविक लक्षणों से समझ जांयगे चाहे उसका अनुभव किये हों या नहीं। यह बहुत बार देखा जाता है कि किसो शोक वा उदासी का ज्ञान पहिले अपनो करुणाही द्वारा हमलोगों को होता है।

दूसरे के दुःख में सहानुभूति (Sympathy) और दूसरे के सुख में सहानुभूति की तुलना करें तो पहिले की फुर्ती [सत्वरता] और उग्रता देख कर, मनुष्यों के स्वभाव और उनके भाग्य के आपस की उपयुक्तता का एक प्रत्यक्ष उदाहरण मिलेगा। जो संगी सुख और हर्ष में है वह हमलोगों के प्यार का आसरा देख सकता है या प्रयोजन पड़ने पर इसको छोड़ भी दे सकता है पर दुखिये हमलोगों की सहायता चाहते हैं और इसी पर निर्भर रहते हैं और यदि प्यार के नाईं दया में विलम्ब किया जाय तो वे दुखिये विलम्ब होने हो से नष्ट होजांयगे। विपत्ति (या आपद) उद्दण्ड प्रबल और शीघ्र बढ़ने वाली बिमारी है जिसमें तात्कालिक चौकसी और सावधानी से औषधि प्रयोग की आवश्यकता है और देखने वाले के जी में करुणा लगाने की शक्ति इसमें रहने के कारण यह अपने वैद्य को तुरत ही बुला लाता है और आवश्यक औषधि ले लेता है।

करुणा (या दया) और इसके तात्कालिक प्रकाश के संसार में रहने से सिद्ध है कि दुःख और शोक इस प्रकृति में भूल नहीं है (अर्थात कर्ता ने इन को भूल से नहीं रच दिया) क्योंकि इनके लिये योग्य उपाय [औषध] भी ईश्वर ने रचा है, और इससे मालूम होता है कि परमोत्कृष्ट या पारलौकिक लाभ पाने के लिये शोक मानो शिक्षा स्वरूप है।

[४] मनः कल्पना—[५] आश्चर्य [६] प्रशंसा [७] सम्मान [भक्ति]।

जैसे कि प्रथम वर्ग के चित्त संस्कार मनुष्यलोक के नीचे हो थे वैसे इस अन्तिम वर्ग के चित संस्कार मनुष्यलोक के ऊपर पड़ते हैं। चतुर्थ वर्ग में "मनः कल्पना" है जो मानसिक सम्बन्धों को ओर जाती है अर्थात् जिनके आस्पदके विचार चिन्ता, या बोध के विषय हैं जो हमलोगों के ऊपर हैं पर तो भी हमलोगों से सम्बन्ध सम्भवहै कि रखते हैं जैसे "प्रकृति" हमलोगों को अपने से बाहर ले जाती है; पर यह नहीं जानते कि किधर, और "मनोविकार" हम लोगों के अवर्ण (या विजाती] वस्तुओं को हमलोगों से हटाता है चाहे वह पदार्थ हो या मनुष्य हो और 'स्नेह' हमलोगों के सवर्णों [या सजाती] वस्तुओं को ओर हमलोगों को खींचता है जो वस्तु केवल मनुष्य हो सकता है चाहे समान हो या असमान। उसी प्रकार से 'मनः कल्पना" काम [या लालसा] करके हमलोगों से उत्कृट विषय को ओर जाती है, चाहे वह विषय मनुष्य सम्बन्धी हो या नहीं। यह तीन प्रकार की है और यह विभाग हमलोगों की प्रकृति के तीनों मनः शक्तियों [faculties] और उन पर रचित तीनों शास्त्रों (या विद्याओं) से मिलता है; यह निम्न लिखित सारणी से स्पष्ट होगा।

मनः शक्ति— [१] बुद्धि विषयक [२] भावना [या कल्पन] विषयक [३] नीति विषयक।

शास्त्र [या विद्या]—(१) तर्क शास्त्र—(२) सौन्दर्यशास्त्र—(३) कर्तव्याकर्तव्य शास्त्र।

मनः कल्पना—(१) आश्चर्य (२) प्रशंसा (स्तुति)—(३) सम्मान (या भक्ति)

आश्चर्य कार्यों का कारण पूछता है; प्रशंसा सौन्दर्य की ओर झुकती है; और सम्मान (या भक्ति) ऊपर सर्वोत्तम भलाई को ओर ताकता है।

'आश्चर्य प्रथम ['या मुख्य] बुद्धिविषयक चित्त-संस्कार है जिससे सब तत्वज्ञान [philosophy] निकलता है। इसको अच्छी तरह से समझने के लिये पहिले आश्चर्य और 'विस्मय' में भेद जान लेना चाहिये। 'विस्मय' तभी होता है जब पहिले से मन में किसी एक प्रकार का ध्यान किसी विषय के बारे में बँधा हुआ है और अब उसके विरुद्ध देखते है; जैसे कि किसी मित्र को जानते हैं कि आज कल इङ्गलैण्ड में है और उसको आज मोज़फ्फरपुर में देखें; या, कोई इन्द्रजाल हमारे रुमाल को ले कर चिथरे चिथरे कार डाले और फिर तुरतही उसको समूचा निकाले। जहां पूर्वज्ञान नहीं है वहां यह भाव नहीं उपज सकता और इससे यह भाव छोटे बच्चे के मन में नहीं उपज सकता कि जिसमें विषयों का अभी कोई व्यवहारिक पर्याय (या क्रम) नहीं बँधा है, और जिसके लिये एक विषय दूसरे से अधिक अनजाना या अनूठा नहीं है। 'आश्चर्य' नये और अनपेक्षित [या आकस्मिक] विषय का फल है, अर्थात् प्रत्येक घटना का जिसके लिये अबतक कोई बान न पड़ा हो पर जो कि नवीन प्रकृति में प्रकाशित हुआ है। इसमें पुराने अनुभव या पूर्व प्रतीचा की आवश्यकता नहीं है। जब तक वस्तुओं की नियत चाल न जान लेगा तब तक 'आश्चर्य' ही रहेगा और अनुभव और विद्या [या ज्ञान] उपार्जन करने का समग्र व्यवहार इसी मनःकल्पना का लगातार [या निरंतर] साधन है। काल की गति से यह भाव कुंठित हो जाता है और तब केवल अपूर्वही वस्तुओं में नवीनता पाते हैं। हमारी समझ में प्रकृति का सूधा क्रम यह है—(१) 'आश्चर्य' अनजाने हुए में (२) बान और प्रतीक्षा जाने हुए में; [३] 'विस्मय' अनोखे विषय में। 'आश्चर्य' विशेष करके लड़कपन में प्रबल रहता है; और लड़कपन के प्रलोभन (या आनन्द) का मुख्य कारण इसी की विद्यमानता है। लड़कपन के बाद भी यह अपनी शक्ति तब देखलाता है

जब हमलोग नये नये विचार के क्षेत्र में पहुँचते हैं चाहे वैज्ञानिक आकर्षण शक्ति वहां ले जाय, या उत्पादक प्रकृति जो ज्ञात वस्तु में वह रंग देखलाती है जो हमलोग उसमें देना भूल गये थे और जो जीवन और संसार और हमलोगों के स्वभाव में नूतन दृश्य प्रकाश (या प्रत्यक्ष) करता है। आलसी लोग, जो केवल जीवन के अपरिहरणीय विषयों को जान कर सन्तुष्ट हो कर सो जाते हैं आश्चर्य करना क्या कहलाता है सो भी भूल जाते हैं और तभी जागते हैं जब कभी कोई विषय स्वयं आकर उनकी दैनिक गति में बाधा डालता है। पर यह तो अंचलापन की जड़ता है, आत्मा की जीवित दर्शन शक्ति नहीं। जहां तक इस आलस को रोकते रहियेगा तथा नये नये विषयों पर ध्यान दीजियेगा वहां तक यह लड़कपन का 'आश्चर्य' जन्म भर चिरस्थायी रहेगा। और यह बड़ा भारी कारण है कि किसी मनुष्य का स्वभाव थोड़े दिनों में फीका पड़जाता है और किसी का सदा ताजा रहता है। पद्य काव्य और धर्म का यह काम है कि आश्चर्य के धारा में बार २ हमलोगों को डुबोवें कि जिस से हमलोगों को प्यास बुझ जाय और यकायक जी उठें। अतएव जानने के पहिले आश्चर्य किया और अधिक जानने के पहिले फिर भी आश्चर्य करना अवश्य होगा।

'प्रशंसा' और आश्चर्य को लोग मिला देते हैं इसलिये इनका भी भेद जान लेना आवश्यक है। आश्चर्य कारण के खोज में गुप्त और अज्ञात की ओर जाता है; 'प्रशंसा'—अर्थात् सौन्दर्य का ज्ञान—मन में विद्यमान वस्तु की ओर जाती है, और उस वस्तु का सत्कार है। वह क्या है जिसके कारण हमलोग किसी वस्तु को सुन्दर कहते और वैसा ही अनुभव करते हैं; इतनी भिन्न २ वस्तुओं में सौन्दर्य का कौन सा सामान्य हेतु है;—आकार और रंग और संगीत में, कार्य और स्वभाव में, प्रकृति, साहित्य और शिल्पविद्या में;—इतनी भिन्न २ वस्तुओं में सौन्दर्य

का कौन सा सामान्य (common) हेतु है, यह भी प्रश्न कठिन और लाभकारी है, पर यह विषय दूसरे शास्त्र का होने के कारण यहां नहीं लिखा जायगा। इसके बारे में यहां इतना ही कहना यथेष्ट है कि यह मनः कल्पना और सब दूसरों से विशेष करके भिन्न २ है। एक तत्वज्ञानी ने कहा है कि सौन्दर्य के पहिचानने का कोई लक्षण नहीं है; यह वर्त्तमान रहता है और स्वयं प्रत्यक्ष (या व्यक्त, प्रकाशित) होता है। आप इसको दिखला सकते हैं पर सिद्ध नहीं कर सकते। प्रशंसा के पात्र रमणीय (या रुचिर) होने के कारण सुन्दर नहीं देख पड़ते, पर सुन्दर होने के कारण रुचिर (रमणीय, प्रसन्नताकारक) देख पड़ते हैं। बहुत से ऐसे पदार्थ हैं जिन में कोई सुन्दरता न रहने पर भी सुन्दर देख पड़ते हैं। सब मनुष्यों में और सब जातियों में देखा गया है कि तत्वतः सौन्दर्य का परिणाम एक ही है। पर हां, संयोग से और ऊपरी वस्तुओं से यह मनःकल्पना बहुत रूपान्तर होने के योग्य भी है। जैसे, एक वैज्ञानिक माता-मुँह दाग वाली स्त्रियों को बहुत सुन्दर कहा करते थे क्योंकि वह लड़पन में एक माता-मुँह-दाग-वाली लड़की पर स्नेह न रखते थे, और एक दूसरे तत्ववेत्ता गानेवाली बालाओं को कुरूपा होने पर भी बहुत सुन्दर समझते थे।

यह अनुभव (या प्रशंसा) मनुष्यों में एकसां नहीं रहता है किसी में बहुत और किसी में थोड़ा। किसी २ में यह बहुत धुंधला और अज्ञात रहता है, उनके लिये चित्रकारों की 'सौन्दर्य-दृष्टि' (अर्थात् सुन्दरता पहिचानने की शक्ति) अमूलक, कल्पित बूझ पड़ती है। जो स्वभाविक (अर्थात् जन्महो से) चित्रकार है उसमें यह प्रबल और उग्र रहती है; सौन्दर्य की दृष्टि उसके ध्यान में इतनी उज्वल और स्पष्ट रहती है कि इसको प्रकाशित करने के लिये वह इससे बारम्बार प्रेरित किया जाता है; और सामान्य लोग उसके कथन (या व्याख्यान) को प्रकृति सिद्ध मा-

नते हैं क्योंकि यह उनके निज पर्व प्रकाशित अनुभव से मिलता है; अर्थात जो भाव उनके चित्त में कुछ २ पहिले से था पर वे स्वयं उसको अच्छी तरह से प्रकाश नहीं कर सकते थे, वही बात जब दूसरा आदमी स्पष्ट रूप से दिखलाता है तो वे लोग भी उसको सच्चा मानते हैं। यह कहावत बहुत सच है कि (poeta nascitur, non fit) 'कवि जन्म ही से (कवि) होता है, न कि बनाया जाता है; अर्थात् कवि स्वभाव ही से होता है न कि विद्याभ्यास से; जो कवि होने वाला रहता है उसमें काव्य करने की शक्ति जन्म ही से रहती है । इस ईश्वरदत्त शक्ति को वे सभी लोग मौलिक मानेंगे जिन्होंने कभी भी ऐसे लड़के को देखा होगा जिसको आख ऐसी कल्पना (या अनुभव) शील है जिससे कि वह आप ही आप सौन्दर्य की भाषा को समझ सकता है, कभी भी गंवारपन (बेढब बनावट) या शोभा (सौन्दर्य) के रूप, शब्द या गति को बतलाने से नहीं चूकता है, और अनुभव के प्रत्येक चतुर (हर्षजनक) मेल (congruity) को शीघ्र ग्रहण करता है।

अन्तिम मनःकल्पना "सम्मान" (भक्ति) है जो उत्तमोत्तम कृपा (भलाई) को पहिचानता है । प्रथम दृष्टि में सम्मान को और सब चित्त संस्कारों के साथ रखना असंगत देख पड़ेगा, पर यह ऐसा नहीं है । यद्यपि सदसदाचार सम्बन्धी और भक्ति सम्बन्धी अन्तर्बोध में अति निकट (या अन्तम्य) सम्बन्ध है और दोनों एक ही परिणाम की ओर झुकते हैं; तथापि हम उनकी समता को नहीं मानते।

यह सब चित्तसंस्कारों से उत्कृष्ट है और अपने से उत्तम गुण (या स्वभाव) वाले मनुष्य को देखने से उत्पन्न होता है । उत्तमोत्तम भलाई या उत्तमोत्तम जीवन की ओर हृदय का आपसे आप जाना ही 'सम्मान' (भक्ति) है । प्रगट वीर और पुण्यात्माओं के अतिरिक्त अलक्ष्य विषयों पर भी यह भरोसा करके जाता

है, जो इससे उत्तम और उत्कृष्ट हैं और उनके सामने नम्र हो कर उनका सत्कार करता है।

सम्मान (भक्ति) अत्युत्तम प्रकार का सदसदाचार सम्बन्धी अन्तर्बोध है। इससे और निर्वन्ध के अनुभव से घनिष्ट सम्बन्ध है, पर ये दोनो एक ही (या समान) नहीं हैं। निर्वन्ध का ज्ञान निवारक है; यह निकृष्ट आचार्यों का अनुसरण करने से रोकता है। 'सम्मान' (भक्ति) आशावान और प्रेमयुक्त है, और प्रसन्नता से उत्कृष्ट चित्तसंस्कार और उत्कृष्ट स्वभाव (या गुण) वाले की ओर आशा के सहित ताकता है।

यह बात कि हमलोग पहिले अपने ही चित्तसंस्कारों का विचार करते हैं, 'सम्मान' (भक्ति) को मुख्य और स्वच्छन्द चित्तसंस्कार होने से नहीं रोकती है। अपने कर्तव्याकर्तव्य ज्ञान में जो उत्तम भलाई को स्पष्ट रूप से बिना जाने ही सम्मान (भक्ति) हमलोगों के धर्मविषयक बड़े लोगों और ईश्वर की ओर भी जा सकता है, और इस कारण से यह 'मुख्य सहज ज्ञान' है क्योंकि इसके लिये कोई आत्म बोध की आवश्यकता नहीं पड़ती है। पर यदि अपने भीतरी उत्कृष्ट चित्तसंस्कार का गुप्त बोध न रहता तो उत्कृष्ट स्वभाव (या गुण) के लिये ऐसा स्वच्छन्द 'सम्मान' (भक्ति) न हो सकता, और इस गुप्त अन्तर्बोध के कारण हमलोग 'सम्मान' (भक्ति) के बारे में भी कह सकते हैं कि हमलोग अनुमान से पहिले ही चित्तसंस्कारों का विचार करते हैं।

चित्तसंस्कारों का ऊपर लिखा हुआ क्रम स्वाभाविक (या प्राकृतिक) क्रम है और अपने बाहरी परस्पर सम्बन्धियों को क्रमशः बढ़ते हुए गौरव से मिलता जुलता है। 'प्रवृत्तियां' केवल अवस्था से परस्पर सम्बन्ध रखती हैं, "मनोविकार" कारण से "स्नेह" मनुष्य (शारीरिकआस्पद) से, और "मनःकामना" पूर्ण सिद्धि से परस्पर सम्बन्ध रखती है।

यद्यपि कालक्रम से मनःकल्पना आत्मबोध के अनन्तर उत्पन्न होती है और जब तक ज्ञात वस्तुओं से मनुष्य अपनी आत्मा को अलग न जानले तब तक इसका उत्पन्न होना असम्भव है, तथापि यह 'मुख्य' ही चित्तसंस्कार है, 'गौण' नहीं, क्योंकि इसको निज आत्मा या इसके भावों से कोई लगाव नहीं रहता है और यह मनुष्य को फिर भी आत्म-विस्मृति अवस्था में ले जाता है अर्थात् मनुष्य इसकी विद्यमानता में अपने को भूल जाता है। इसका आशय सदा स्वार्थहीन और निज सन्तुष्टता के ध्यान से भी हीन रहता है।

(२) गौणरूपान्तर के लक्षण।

पूर्वोक्त कारणों "मुख्य" कार्योत्पादक हेतु तत्वतः कर्म करने में स्वार्थहीन हैं, ये हमलोगों को बिना इच्छा और फल के सोचने का अवसर दिये हुए हमलोगों को इधर उधर दौड़ाया करते हैं परन्तु जब ये आत्म-बोध युक्त प्रकृति में आते हैं तब हम लोग तुरत उनके व्यापार को जान लेते हैं। उनमें से प्रत्येक अपना इष्ट प्राप्त करने में एक विशेष प्रकार की तृप्ति (या सुख) देता है; और दूसरी बार इसके उपजने के समय कुछ पहलेही से इसके परिणाम का अनुभव चित्त में रहता है। यह प्रत्यक्ष है कि ये भिन्न २ तृप्तियां स्वयं भी 'इष्ट' हो सकती हैं और इनके पानेकी रुचि नए कार्य्योत्पादक हेतु संस्थापन करेगी। ये नये चित-संस्कार पूर्वोक्त चित्त संस्कारों के साथ अनेक प्रकार से मिल जाते हैं और बहुधा उनसे उत्तम गिने जाते हैं। येही "गौण" कार्योत्पादक हेतु कहे जाते हैं और लाभ युक्त प्रकृति या हमलोगों में कोई अवस्था उपजाने की अचल इच्छाही इनका लक्षण है। इनकी श्रेणी मुख्य चित्त-संस्कारों का केवल आत्म-बोधयुक्त विरुद्ध पक्ष है। इस विषय में आत्म बोध का अभिप्राय यह समझना चाहिये कि गौण चित्त-संस्कार में पहिले ही से यह ज्ञान रहता है कि इनके अनुसार कार्य करनेका परिणाम अपने ऊपर क्या होगा और इनसे क्या अनुभव होगा।

(१) गौण प्रकृति (भ) विलास-प्रेम (इ) धन प्रेम (उ) पराक्रम-प्रेम।

"प्रकृति" गौण रूपान्तरों को मन में ध्यान कर के पहिचानना उतना कठिन नहीं है पर उनको पहिचानने के लिये योग्य शब्दों को रखना बहुत कठिन है,क्योंकि जब वे अत्यन्तता की श्रेणी को ग्रहण करते हैं तभी उनके ऊपर लोगों का ध्यान पड़ता है और उनकी कोई संज्ञा होती है। और तब भी एक के साथ कई एक मिले रहते हैं और वह संज्ञा किसी एक इच्छा को ठीक २ नहीं बतलाती है। जैसे कि 'क्षुधा' या 'संभोगेच्छा' के इर्पक्षी को कार्योत्पदक हेतु माने तो इनमें से किसी के लिये कोई समपक्षी (Neutral) नाम न मिलेगा। प्राय: लोग निम्नलिखित शब्द गौण प्रवृत्तियों के लिये प्रयोग करते हैं। कामासक्ति विषयासक्ति, मतवालापन, मद्योन्मत्तता, अत्याहार, जिभचलापन, सुस्वादुता, शारिरीक सुखानुराग, कामाग्नि, मैथुनेच्छा, लम्पटपन, इनमेंसे कोईभी दोष-हीन नहीं है। क्षुधा और सम्भोगेच्छा ज्योंहीं आत्म-बोध युक्त अवस्था में पहुंच कर शुद्ध चित्त-संस्कार के बदले दुष्ट होते हैं त्योंहीं उनके लिये निन्दा के शब्द प्रयोग किये जाते है। यह बात बहुत सार्थक है इससे यह प्रकाशित होता है कि यह उनकी शुद्ध और आरोग्यजनक अवस्था नहीं हैं और यह कि अपनी मन मानता से अपनी कामना को सन्तुष्ट करने में ये कुत्सितरूप धारण करते है।

क्षुधा और संभोगेच्छा का गौण "विलास-प्रेम" के लग भग समपक्षी नाम से पुकारा जा सकता है क्योंकि यद्यपि इस शब्द का भी और दूसरे २ क्रिड़ा और आह्लाद की इच्छा में प्रयोग किया जाता है तथापि इस शब्द का अर्थ इसी विषय में पहिले पहिल लगता है।

स्वच्छन्द अंग-विक्षेप का गौण रूपान्तर बली लोगों के अपने बल की क्रिया (जैसे कि कुश्ती मारना) में पूर्ण होने की इच्छा

में देखा जाता है। पराक्रम के आनन्द लाभ का उद्योग करना "पराक्रम प्रेम" कहा जाता है चाहे वह पराक्रम शारीरिक प्रकृति के विजय में दिखलाया जाय या मनुष्यों की इच्छा पर प्रभुता दिखलाने में। कुछ न कुछ कार्य करते रहने की इच्छा चाहे उससे दूसरे की क्षति भी हो जो बालकों में देखी जाती है वह इसी का मौलिक (या प्रथम) रूप है। इसी की एक अवस्था में बहुत से छोटे २ विषय, जैसे कि रक्षणीय (या आश्रित) जीवों की प्रार्थना, परोपकार की इच्छा, भय की चौकसी और पूर्व-दृष्टि इत्यादिक इसमें आकर मिल जाते हैं। पर इसका सार लक्षण प्रतिबन्धों (या बाधाओं) को वश करने या रोकने में देखा जाता है।

"धन प्रेम" पूर्वोक्त दोनों चित्त संस्कारों—विलास प्रेम और पराक्रम प्रेम का केवल यौगिक फल है पर इसमें पराक्रम प्रेम का अंग अधिक रहता है। संपूर्णतया कृत्रिम और प्रति निधि रूप वस्तु पर इसकी गति होने ही से इसका स्वयं कृत्रिम होना प्रत्यक्ष है। धन का बहुमान (या मोल) इसी में है कि यह आराम और विलास के पदार्थों पर अधिकार देता है और मर्यादा कीर्ति अधिकार प्रताप और अभिलाषाओं की पूर्ति का साधक (या कारण) है। इन्हीं कारणों से धन कामना का पात्र होता है। यद्यपि पीछे यह स्वयं ही इष्ट पदार्थ और लोभी के मन में यह एक भिन्न ही लालसा होजाता है तथापि उसमें भी धन बचावे और अधिकार का चिन्ह ही यह ध्यान रहता ही है। जब सूम को देखते हैं कि अपने धन के सब लाभों को त्याग कर धन हीन (या दरिद्र) की दशा को ग्रहण करता है तब अनुमान में यह आता है कि यह मोल लेने के योग्य सब वस्तुओं से विरक्त है, अर्थात् किसी वस्तु को चाहना इसके जी में हुई ही नहीं, पर यह सत्य नहीं है। उसके मन की भी कामना विमोहित कर रही है अपने उत्तराधिकारी का वैभव

स्थिर रख कर या विरोधी बाधाओं को रोक कर भविष्यत् दरिद्रता और असहायता के भय को रोकने की चिन्ता उसके ध्यान में हो सकती है ।

(२) गौण मनोविकार (अ) द्वेष (या डाह) (इ) प्रतिहिंसा-शीलता (उ) संदेह शीलता ।

मनोविकार आत्म-बोध युक्त होकर प्रसिद्ध और अभ्यस्तरूप धारण करते हैं। मुख्य मनोविकार मनोहर (या सुखद) न होने के कारण लोग समझेंगे कि इस के बढ़ाने की रुचि किसी को न होगी पर ऐसा नहीं है। मनुष्य को इसकी चाट पड़ जाती है और कोई २ बिना घृणा क्रोध या भय के कलपाते नहीं हैं। सच तो यह है कि कोई कार्योत्पादक हेतु ऐसा नहीं है जो अपना इष्ट (End) पाने में शान्ति और सन्तुष्टता न पावे यहां तक कि क्रोधादिक मनोविकार के मन में आ जाने से जब वे उसका कार्य पूरा करते हैं तो एक प्रकार का भार उतरा सा उसे मालूम पड़ता है।

घृणा का अनुराग "द्वेष' (या डाह) कहा जाता है। छिद्र ढूंढ़ने की बान भी इसी का रूपान्तर है। क्रोध को बढ़ाने और उससे अनुराग रखने को "प्रति-हिंसा-शीलता" कहते हैं और वैसे ही भय को चित्त में प्रत्येक विषय में बनाए रखने को "संदेह-शीलता या अविश्वास" कहते हैं। व्यहार में ऐसे २ स्वभाव के लोग प्रायः देखे जाते हैं।

द्वेषी आदमी दूसरों को देखतेही उन लोगों में जो कुछ उसको अपने विरुद्ध देख पड़ेगा उसीको प्रकाशित करेगा, अवगुणों को बहुत बढ़ा चढ़ा कर कहेगा, नई और विरल बातों का बुरा अर्थ लगायेगा और उपहास करेगा। दूसरों के कलङ्क को बड़ी चाह (अनुराग) से डाही मनुष्य सुनता है। आपके मित्र में जो कुछ अवगुण उसने पाया है सो सब आपको मानो विश्वास पात्र मान कर कहेगा और यदि आप उसकी बातों

को झूठा प्रमाणित करेगी तो क्रुद्ध जायगा। संसार के मनुष्यों में से प्रायः आधे ऐसेही दुष्ट स्वभाव के होते हैं। दूसरों की आकृति बोली या आचरण में छोटी छोटी असाधारण बातें देखकर—जैसे कि टेढ़ी नाक, विशेष रंग का बाल, नकियाना, बहुत हँसी या बहुत थोड़ा बोलना, इत्यादिक—जो लोग घृणा करते हैं वे पीछे इस अभ्यास को बढ़ाते २ अपनी इस अविचार-बुद्धि के दास हो जाते हैं और तब तनिक सा भी चिन्ह पाने पर पहिले अनुमान करते तब विश्वास और तब प्रकाश करते हैं। झूठ कलंक लगाने वालों का अधिक तरह यही स्वभाविक इतिहास रहना चाहिये।

इसी प्रकार से प्रति-हिंसा-शील मनुष्य क्रोध का अवकाश खोज २ कर निकालेगा और वास्तविक या कल्पित अपराधों (या हिंसा) के लिये दण्ड देगा (या हानि पहुँचावेगा) सो भी सदा विचार-कर्ता या पंचों के द्वारा नहीं पर सब लोगों के सामने दोष लगा कर अथवा गुप्त रूप से डांट कर और झिड़िक कर हानि पूर्ण करने के लिये दावा कर के। ऐसे भाग्यशाली थोड़ेही होंगे जिन्हें ऐसे आदमी से कभी भेंट न भई हो, जो सदा यह कहा करता है कि यह संसार बड़ा दुष्ट है; अमुक ने आज मेरी यह बुराई की है इत्यादि। ऐसा आदमी सदा दूसरों से बदला लेने के लिये झगड़ता है। यदि अपना कुछ लाभ सोच कर वह स्वयं अपने बैरी से बदला नहीं ले सकता है, तो वह बड़ी सन्तुष्टता से देखता रहता है कि उसके बिना कियेही दैव घटना से उसका प्रतिकार हो गया।

सन्देह शील मनुष्य अपने लिये भय मानो गढ़ता रहता है। वह ऐसे डर में रहता है कि मानों किसी ने चेतावनी की चीठी उसके पास भेजी हो कि डाकूलोग आकर थोड़ी देर में उसको घेर लेंगे। उसको बूझ पड़ता है कि समूची प्रकृति और मनुष्य जाति मेल करके उसके विरुद्ध खड़े होंगे यदि उसे सर्दी होती है

तो वह मृत्युपत्र लिखने को तत्पर हो जाता है, लड़कों को बुखार आने से वह समझता है कि वे अब अच्छे न होंगे, नया कपड़ा नहीं सिलवाता है कि कदाचित्त कोई ऐसा दरजी उसे न सीये जिसके घर में लाल बोखार जारी है, कोठी से अपना खाता उठा लेता है क्योंकि नए गुमाश्ते की दृष्टि उसे अच्छी नहीं लगती अपनी स्त्री को उसकी परम हितकारिनी सहेली को छली कह कर चौकस रहने को उसको कहता है। यदि कहीं वह विद्वान रहा तो इतिहास लिखने वालों को झूठा, कवियों को ग्रन्थ चोर, नीति लेखकों और धर्म ग्रन्थकर्ताओं को डिंभी (या झूठा) समझता है। राजाओं की नाई जो भोजन की सब सामग्री को पहिले दूसरे से चिखवा लेते हैं कि कदाचित्त किसी में विष न हो, वह अपनी सब मानसिक शक्तियों को दूसरों के छल को परास्त करने में लगाता है।

जिसमें ये गौण मनोविकार उत्पन्न होते हैं उसमें यह बहुधा पाया जाता है कि जब उनके सम्बन्धी मुख्य मनोविकार स्वभावतः आरम्भ ही में प्रचंड रहता है। मनोविकार पहरूए की नाईं शरीर की रक्षा किया करते हैं और जब तक इसी काम में लगे रहते हैं तबतक उपयोगी होते हैं पर जब ये मनुष्य के मन पर अधिकार कर बैठते हैं और बुराई को रोकने के बदले स्वयं भी कुछ कार्य करने लगते हैं तो इसका परिणाम उलटा हो जाता है। तब मानसिक शक्तियां भी इसकी सहायता फुर्ती और सुगमता से करने लगती हैं। दोषानुसंधान, बोली ठोली मारना, निवारण, विरोधोक्ति आदिक मन के लिये जितनी सुगमता से साध्य हैं उतना नए विषयों का सिरजना नहीं और इसका फल यह होता है कि बहुत विवादकर्ता और विग्रहद्रोही मनुष्य संसार में होते हैं जो घृणा और अस्वीकार के अतिरिक्त बुद्धि की कोई सामर्थ (या शक्ति) नहीं दिखलाते हैं। इसकी फुसलाव (प्रलोभन) में पड़ना जीवन की औषधि को आहार

बना डालना है और इस के कड़वे रसको पीने की भी भट रुचि से हारा इसके निर्मल जल की प्यास को गंवाना है।

(३) गौण स्नेह —रसिकता (Sentimentality)

जब स्नेह आत्म-बोध युक्त होता है और उसको पुनरानुभव करने का स्वेच्छा पूर्वक उद्योग किया जाता है तो मन की इस दशा को 'रसिकता' कहते हैं। यदि घरके लोगों पर निःकपटता से परिवार स्नेह दिखाने के बदले दया करने से जो लाभ अपना होता है उस लाभ का हेतु उन लोगों को समझा कर उन पर निज लाभार्थ प्रेम दिखलाया जाय, यदि साथियों और अपने बराबरी के लोगों पर संसर्गिक स्नेह दिखलाने के बदले इस स्नेह के फल को भोगने का कारण (हेतु) इनको जानकर केवल समाज का प्रेम किया जाय, यदि करुणा के बदले दया लगाने का चस्का या चाट पड़ जाय तो इस विकार को, स्वाभाविक स्वास्थ्य को रसिकता के रोग में पलटना कहना चाहिये। इस व्याधि की कुटिलता इतनी बड़ी है कि जो २ उपाय इसके रोकने के लिये किये जाते हैं उन्हीं से यह बहुधा बढ़ जाती है।

(४) गौण मनः कल्पना — (अ) आत्म-शिक्षा [या विद्योपार्जन] (इ) धर्म में अनुराग।

मनः कल्पनाओं के भी गौण रूपान्तर होते हैं पर इस परिवर्तन से उनमें स्वार्थ हीनता नहीं रहती। कोई वैज्ञानिक पुरुष अपनी स्त्री के मरण सेज के पास से आकर चुपचाप अपने पुस्तकालय में बैठ कर अपना चित्त बहलाने के लिये यह सोचने लगे कि लट्टू क्यों नाचता है तो वह 'आश्चर्य' के आधीन कार्य नहीं कर रहा है पर 'आश्चर्य' को अपनी सेवा में स्वयं ला रहा है। जहां विद्या के पीछे मन की शक्ति को जाने देने के बदले मन की शक्ति के पालन के हेतु विद्या उपार्जन करते हैं वहां स्वाभाविक चित्त-संस्कार के बदले आत्मा शिक्षारूपी गौण इच्छा आ बैठती है विद्योपार्जन की समग्र विधि मानसिक शिक्षाओं के लिये है

और जब बुद्धि प्रौढ़ हो जाती है तभी नये विषयों का अनुसंधान कर सकती है इस से बूझ पड़ेगा कि विद्यार्थी के मन में पहिले गौणही चित्त संस्कार आता है और फिर मुख्य। पर यह बात नहीं है, हां शिक्षक के मन में विद्यार्थी की शिक्षा इष्ट है पर इस से उस के चित्त में कोई विद्या नहीं आती, वह भलेही विद्या (ज्ञान) को अपना इष्ट मान सकता है और उस शिक्षा क्रम की बड़ाई नहीं की जा सकती है जिस में यह देखा जाय कि विद्यार्थी का इष्ट ज्ञान नहीं है पर आत्म-उन्नति है। यह क्रम तब तक पूरा नहीं कहा जा सकता है जब तक दोनों भिन्न २ चित्त संस्कार एकही समय में क्रमश: बिना परस्पर विरोध के शिक्षक और शिक्षित (विद्यार्थी) के चित्त में रहे। और शिक्षक अपनी प्रवीणता से विद्यार्थी के चित्त में उन विषयों के अनुसधान (खोज) की इच्छा पैदा करे जो उस की समग्र प्रकृति को काम में लगावेगा और सब अंगों को समान रक्खेगा। बहुत दिनों के बाद या असङ्गत हेतुओं के चित्त में पैठ जाने से, सत्य जानने की लालसा के बदले परिपूर्णता प्राप्त करने की लालसा हो जाती है॥

'प्रशंसा' गौण रूपान्तर में "शिल्प विद्या का अनुराग" स्वाद या रुचि के आनन्दों में आसक्ति या अनुराग होता है। सुन्दर वस्तु के देखने से जो एक निराला भाव उत्पन्न होता है वह इस से नष्ट हो जाता है क्योंकि यह बड़े सावधानी से उस को स्वयं खोजता है, यह अपने को सूक्ष्मदर्शी विचारक बनाकर इन के दोषों पर नाक चढ़ाता है। सहज (या स्वाभाविक) निपुणता (या योग्यता) (genius) नियम स्थापक है, पर स्वाद (taste) विवेचक है। जो शक्ति (गुण, योग्यता) नई छवि देख कर नये नियम बनाती है, चाहे पुराने ढांचों को देख कर नये विषयों की व्याख्या करने के अभ्यास से अवश्य ही विरुद्ध

खड़ी होगी। अवयवों को अलग २ कर के जांचने में सुन्दरता नाश हो जाती है॥

यह यद्यपि अनूठी बात है पर सत्य है कि 'सम्मान' के भावों को अनुभव करने का धक्का भी पड़ जा सकता है। जब 'धर्मानुराग' ईश्वर प्रेम के स्थान में आ जाता है, जब स्वयं ईश्वर नहीं, पर ईश्वर विषयक चिन्ता और भाव अन्तर्बोध में वर्त्तमान रहते हैं, जब ईश्वर के शरण में और ईश्वर के होकर रहने के बदले केवल मन को काम में लगी रहने के लिये उन के बारे में कोई बात मिलती है, तब यथार्थ धर्म के बदले इस का केवल दृश्य (नाटक) रह जाता है, सत्यता के बदले प्रतिमा रह जाती है, और 'सम्मान' (भक्ति) मानो दर्पन में देख पड़ता है। बड़े भय की बात है कि वर्त्तमान काल में यह गौण चित्त संस्कार निराली भक्ति (सम्मान) का स्थान ग्रहण कर रहा है। धर्म और ब्रह्मविद्या (Theology) में यही भेद है कि धर्म मुख्य 'सम्मान' (भक्ति) का, और ब्रह्मविद्या इस के गौणरूपान्तर का प्रकाश है। पूजा में भेद, एकही धर्म में कई एक संप्रदाय की पड़ोसियों के धर्म के बारे में पूछ पुछाई, भिन्न भिन्न मतों का तोलना और समालोचना,— सभी ध्यान भेद की सोमा को और भी उजियाला करते हैं और मनुष्यों को एक सङ्ग मिलाने के बदले टुकड़े २ करते हैं॥

(२) मिश्रित कार्य्योत्पादक हेतु।

पूर्वोक्त परीक्षा में प्रायः सभी मौलिक चित्त संस्कार आ गये हैं, इस से चाहिये था कि सब कार्य्य और चित्त विकारों की इन्हीं से व्याख्या पूरी हो जाती पर बिना कुछ मिश्रण के यह नहीं हो सकता। ये अनेक चित्त संस्कार मिल कर बहुतेरे मिश्रित चित्त संस्कार बन जाते हैं और कोई तो क्षणिक और दैवगति-जनित होते हैं, जिन में से कोई २ अभ्यास पड़ने से इतना मिल जाते हैं कि जुट कर एक हो जाते हैं। मन में दो

या अधिक चित्त संस्कारों का मिल जाना वास्तविक है, और इन के संयोगिक नाम में कुछ धोखा नहीं रहता है। इन के दृष्टान्त' प्रशंसा (या बड़ाई) का अनुराग (या अभिलाषा), इत्यादिक। ये सब कई मूल चित्त संस्कार से मिलकर बने हैं, जैसे प्रशंसा की अभिलाषा, अर्थात् दूसरों से प्रशंसा पाने की इच्छा, इस में ये सब उपलक्षित होते हैं—प्रशंसा को ग्रहण करने का स्वभाव, क्योंकि अपने को एक प्रशंसित पदार्थ के स्थान में रखता है ' सांसर्गिक स्नेह का भी अंश इस में है, और तब कुछ आत्मा अविश्वास भी रहता है जिस से दूसरों का भरोसा करता है और फिर यह आत्मा अविश्वास भी कई एक चित्त-संस्कारों से विकृत होकर बना है। फिर ' हिस्का ' (या दूसरों से बढ़ जाने की इच्छा) में ' पराक्रम प्रेम (या अभिलाष) ' दो विषयों पर है अर्थात् इस में ईर्षा को वस्तु और प्रतिपक्षी मनुष्य दोनों पर अपना बड़प्पन दिखलाना चाहता है, और फिर प्रशंसा प्रेम भी इस में विद्यमान है क्योंकि इस में देखवैया और उन से प्रशंसा पाने की इच्छा दोनों आवश्यक हैं इन के बिना 'हिस्का' उत्पन्न नहीं हो सकता।

ये मिश्रित कार्योत्पादक हेतु निम्न लिखित नियमों से बनते हैं.—

(१) स्थानान्तर करने का नियम। किसी दुखदायक वस्तु से घृणा (या अलग भागना) और दुखदायक वस्तु से आकर्षण इस नियम से उन वस्तुओं पर भी हो जाता है जो इन सुखद या दुःखद वस्तुओं के साथ रहते हैं, यहां तक कि इन के कारण के साथ भी हो जाते हैं। जैसे कि किसी डाक्टर ने एक बार आप का घाव चीरा हो तो जिस छुरी से चीरा था उस का देखना आप को बुरा बूझ पड़ेगा क्योंकि इस के द्वारा कष्ट सह चुके हैं, इतना ही नहीं वरञ्च डाक्टर, उन का घर, जहां चीरा गया, या वह स्थान, उन की गाड़ी, इत्यादिक भी बुरे बूझ प-

हुंगे। इसी प्रकार से यदि किसी ने कुछ सुखद सन्देसा सुनाया या किसी ने कोई सुखद पत्र भेजा तो वह मनुष्य, उस की बोली या वह पत्र लिखने वाला और उस का हस्ताक्षर, इत्यादिक मनोहर बूझ पड़ेगी। इसी प्रकार से, कोई २ के मनोहर बूझ पड़ने का कारण भी जाना जा सकता है।

(२) स्वभाव-समता (या, सहानुभूति) का नियम। दूसरे मनुष्य में कोई मानुषी भाव को प्रत्यक्ष देखने या उस का ध्यान करने से हम लोगों में भी यह भाव उत्पन्न हो जाता है। जब किसी मनुष्य के, चाहे वह अपरिचित भी हो, मङ्ग पड़ जाते हैं तो उस के आनन्द से स्वयं भी आनन्दित और उस की उदासी से स्वयं भी कुछ उदास हो जाते हैं। बिना कोई कौशल या प्रयासही के यह भाव उत्पन्न होता है। लड़कों के साथ लड़का बनते, अचेत के साथ हंसते हैं, और दुखिया के साथ खेदित होते हैं। दूसरों का भाव अपने भाव को मिलरूप कर देता है यह प्रत्यक्ष है।

(३) दूरी का नियम। आनन्द का आकर्षण और दुख से घृणा (या अप्रीति) आनन्द और घृणा की वस्तु से जितनी दूर पर रहेंगे उतना घटते जायंगे। जैसे २ फल अनुभव करने का समय पहुंचता है तैसे २ आशा बढ़ कर विश्वास होती जाती है (अर्थात् जैसे समय निकट पहुंचता है तैसे २ आशा दृढ़ होती जाती है), और भय बढ़ कर निराशा होती जाती है (अर्थात् भय से बचने की आशा घटती जाती है)। इसी कारण से जब तक आपत्ति दूर देख पड़ती है तब तक लोग निश्चिन्त बैठे रहते हैं और उस के रोकने का उपाय नहीं करते हैं और निकट पहुंच जाने से यकायक घबड़ा जाते हैं।

इन्हीं नियमों के द्वारा मिश्र चित्तसंस्कारों को अलग २ कर उन के मौलिक अंगों को फिर भी जान सकते हैं।

(४) कार्य्योत्पादक हेतुओं के सङ्ग ' परिणाम दृष्टि और हिताहित ज्ञान ' सम्बन्ध।

' परिणामदृष्टि ' (या पूर्व विचार) और ' हिताहितज्ञान ' (या अन्तःकरण) का भेद पहिले लिख आये हैं। इन में कोई भी चित्तसंस्कारों की नाईं स्वयं प्रामाणिक (या निर्णायक शक्ति नहीं है। कि जिस से इन की भी गिनती चित्तसंस्कारों में हो सके। ये दोनों चित्तसंस्कारों का विचार करते और गुण दोष बतलाते हैं इस विचार के कर्म में यह स्पष्ट है कि परिणाम-दृष्टि को गौणही चित्तसंस्कारों का विचार करने का अधिकार है, परन्तु 'हिताहितज्ञान' मुख्य और गौण सभी की विवेचना करता है। क्योंकि कौन कार्य करने से कितना सुख अपने को मिल सकेगा इसी का विचार करना ' परिणाम-दृष्टि ' का कर्म है। परन्तु अपने को अच्छा लाभ दायक समझ कर किसी एक मुख्य चित्तसंस्कार को पसन्द करें तो उस को मुख्यत्व का नाश हो जायगा और वह गौण हो जायगा।

परन्तु ' हिताहित ज्ञान ' (या अन्तःकरण) सब चित्तसंस्कारों का सदसदाचार सम्बधी मौल्य-भेद निर्णय करता है और यह भेद मुख्य और गौण दोनों में रहता है।

' आत्म-अन्तर्बोध ' (या आत्म चेत) (Self-consciousness) मुख्य चित्त-संस्कारों का गौण रूपान्तर कर देता है और जो कि ये सभी गौण चित्त-संस्कार कुछ स्वार्थ सुख चाहते हैं, इस से बूझ पड़ सकता है कि ये सब ही मुख्य से निकृष्ट हैं सब बुरे हैं और आनन्द के अतिरिक्त और कोई प्रकार का भेद इन में नहीं है। अतएव गौण चित्तसंस्कारों से सब सदसदाचार सम्बंधी मान और भेद अलग कर देनाही आत्म-चेत (या आत्म अन्तर्बोध) का फल देख पड़ेगा।

(१) आत्म-अन्तर्बोध (या आत्म-चेत) केवल हमलोगों के आनन्दही का विचार नहीं करता है, पर हम लोगों की स-

मूची प्रकृति में आ जाता है और सब प्रकार के अनुभव (या परीक्षा), और चतुर व्यवहार का मूल है।

(२) आत्म-चेत य व सन्तान और आत्म दमन भी सिखलाता है जो कि योग्य आचरण में अवश्य होने चाहियें अ-अमर (गों। मिलने पर भी मूढ़ (या जड़) बनना उचित नहीं

(३) आत्म चेत केवल यही नहीं दिखलाता है कि अमुक मुख्य चित्त संस्कार का अनुराग करने से किस प्रकार का आनन्द होगा पर यह भी बतलाता है कि मुख्य का रूपान्तर होने से अमुक गौण चित्त संस्कार का सदसदाचार सम्बन्धी सौन्य क्या हो गया है। यदि इस सौन्य - परिवर्त्तन का ध्यान न रक्खें तो यह दोष अपना है।

(४) आत्म चेत, सच है कि मुख्य चित्तसंस्कार का आनन्द दिखलाता है पर यह उस आनन्द के पाने के लिये प्रेरणा नहीं करता।

षष्ठम अध्याय

कार्योत्पादक हेतु श्रेणी

कर्तव्याकर्तव्य क्रम।

(MORAL ORDER)

(१) गौण मनो विकार, अग्राह्य हैं।

कार्योत्पादक हेतुओं की श्रेणी में से एक वर्ग, अर्थात् गौण मनो विकार, केवल दूसरोंही की अपेक्षा नहीं परन्तु स्वयं भी बुरा है दूषित है, और इस कारण से ग्रहण करने के योग्य नहीं है, अतएव इस को पहिलेही निकाल देना चाहिये। इस के तीन भेद हैं निन्दकता, प्रतिहिंसा-शीलता, और सन्देह-शीलता। ये पैशचिक प्रकृति के मूल सूत्र हैं। एक तत्ववेत्ता ने लिखा है कि स्वभावतः कार्योत्पादक हेतु एक मात्र (absolutely) अच्छे या एक मात्र बुरे नहीं होते परन्तु एक दूसरे की अपेक्षा अच्छे या बुरे होते हैं। तिस पर भी द्रोह चिन्ता अर्थात किसी प्रकार से दूसरों को पीड़ा देने (या दुखाने) की प्रवृत्ति इस नियम के बाहर है और कभी भी दुष्टता के दल से बाहर नहीं होती।

(२) इन्द्रिय जनित इच्छा, मुख्य और गौण, और स्वच्छन्द अङ्ग विक्षेप।

बाकी चित्तसंस्कारों में से जो सब से निकृष्ट है अर्थात् विश्राम और विलास का अनुराग- (Love of ease & pleasure) सोभी इस बुरी दशा में नहीं है। यद्यपि और सब चित्तसंस्कार इस को लज्जित करते हैं, तौ भी जब और कोई उपस्थित नहीं है उस समय यह ग्रहणीय है और तब कोई इसे बुरा न क

होगा, क्योंकि मनुष्य-जीवन में भी बहलाव और विश्राम का स्थान नियत है। परन्तु इस का स्थान मुख्य इन्द्रिय प्रवृत्तियों (क्षुधा, संभोगेच्छा) से अवश्य नीचा है, क्योंकि केवल क्षुधा को सन्तुष्ट करना स्वाद के लिये खाने से अवश्य ही उत्तम है। इसी प्रकार से संभोगेच्छा का भी निर्णय हो सकता है। इस का अनुराग कहाँ तक कर सकते हैं इस का विचार इस मुख्य संस्कार के इस परिमाण से करना चाहिये कि मनुष्य-जीवन (अर्थात् अपने और समाज के जीवन को पूर्णतम, और सब अंगों में समान, बल में पालन करना ही इस का काम है। इस का अनुराग (शौक) करने से यह बढ़ता है, यह सभी जानते हैं, केवल अत्यन्त ही अनुराग नहीं (जिसे तो सभी लोग बुरा कहते हैं) पर उतना भी अनुराग बुरा है जो प्रचलित व्यवहार में प्रमाणिक गिना जाता है, जिस को प्रत्येक बुद्धिमान चिकित्सक अच्छी तरह से ताड़ते हैं, और जिस को बहुतेरे मनुष्य अपने अन्तःकरण से लज्जित हो कर अपने चित्त से पहिचानते हैं। यदि इस लोगों के इस स्वभाव की प्रत्येक अनदेख अधिकाई रुक जाती तो शारीरिक और मानसिक जीवन (अर्थात् शरीर और मन) ऐसे बलयुक्त हो जाते कि जैसा इस समय ध्यान में भी नहीं आ सकता है, और दिन दिन अधिक पराक्रम होता जाता, यद्यपि संसार में चिकित्सकों की संख्या आधी भी हो जाती। अतएव विलास और विश्राम का अनुराग और विषयानुराग अपने मुख्य रूप (i.e) (अर्थात् क्षुधा और संभोगेच्छा) से नीचा है, और यह इस से भी सिद्ध होता है कि ये विषयानुराग उन्हीं मुख्य चित्त-संस्कारों के द्वारा रोके भी जाते हैं। माता पिता लड़के को कहा करते हैं और अन्तःकरण सब लोगों को कहता है कि जब तक भूख न लगे मत खाओ, और जब खाते २ भूख शान्त हो जाय खाना छोड़ दो और यह जूठा समझ छोड़ दो या अमुक कि

पथ को तुम्हें चाह (छीनता, घटो) है क्योंकि तुम उसे पसन्द करते हो'।

'स्वच्छन्द (चाप से चाप) पञ्च-विच्छेद' अपने मुख्य रूप को छोड़ कर गौणरूपान्तर धरने में अपने पूर्व स्थान को बहुत दूर पीछे छोड़ देता है। मुख्य रूप में भी यह 'सुधा' और 'संभोगेच्छा' के ऊपर रहता है, परन्तु बुद्धि-दर्शित पथ पर चलने से और एकनियमित मनोरथ धारण करने से, अर्थात् इच्छा-पूर्वक होने से यह उत्कृष्ट हो जाता है। पहिले यह 'पराक्रम प्रेम (अनुराग)' (Love of Power) और तब 'विश्राम और विश्राम के अनुराग' के साथ होकर 'धन-प्रेम' (Love of money) का रूप धारण करता है। व्यर्थ अपना पराक्रम दिखलाने से किसी विशेष मनोरथ प्राप्त करने के लिये उस का दिखलाना अच्छा है।

(२) (लाभानुराग Love of gain) और मुख्य मनो विकार।

'लोभेच्छा' का विरोध जितना मनो विकार करता है उतना और कोई नहीं, और इन दोनों के अधिकार (या स्वत्व) के विवाद या निर्णय करना भी कठिन है। एक पक्ष में, परिमित व्यय सम्बन्धी लाभ जबतक मनोविकार रहित न हो तबतक सिद्ध (या पूर्ण) नहीं होता है. अतएव यह घृणा और क्रोध का झाड़ने वाला (ओझा), शान्ति (या निर्द्वन्दता) की आड़ (अर्थात् यह जिस के द्वारा शान्त रह सके) और रोकने के योग्य विघ्नों का रोकने वाला समझा जाता है, और इस से इस को आधीनो में क्रोध और भय के विनष्ट हो जाने की आशा की जा सकती है। दूसरे पक्ष में, यह कहा जाता है कि शान्ति और धन भी बहुत महंगा कहना चाहिये जब ये आत्म प्रतिष्ठा देकर खरीदे जायँ, चाहे वह आत्म-प्रतिष्ठा स्वकीय हो या जातीय, और यदि ये (शान्ति और धन) गर्व, घृणा

के योग्य. वस्तुओं से घृणा की, और अनुचित कार्य अ-
सत्ता की (या विरोध की) , छिपने को कहें तो, इस
(शान्ति और धन का) त्यागही उत्तम है। यह बात
सदसदाचार सम्बन्धी प्रश्नों पर स्थिर नहीं है परन्तु
करके पूर्व विचार सम्बन्धी कार्य-फलों पर भी।

धन प्रेम (या लाभानुराग) की घृणा (या द्वेष) से
तोलने में यह स्मरण रखना चाहिये कि घृणा को 'मुख्य' चित्त
संस्कार और स्वाभाविक मानते हैं. इस को अपने जीवन
लोभी और आत्म-रक्षा की स्वाभाविक गति (जो मनुष्य
अपकार को अलग२ रखती है) समझना चाहिये, और इसको
अविचार बुद्धि (prejudice) और निष्कारण दुष्टता (या दुष्ट-
भाव) के साथ मिलाना नहीं चाहिये। जब ये दोनों चित्त की
एक ही समय अपनी २ ओर खींचें तो हम लोगों को उचित
है कि उन के एक साथ उपस्थिति के समय ही का सापेक्ष अधि-
कार (या स्वत्व) निर्णय करें, और इस के बाद की कोई ग-
णना न करें। सब भावना धीरे२ घट और लोप हो जा सकती
है यदि उन का आवश्यक व्यवहार (अभ्यास) से तोड़ती जांय,
और तब उन का मोल ठीक २ नहीं जाना जा सकता। घृणा
और लाभ का एक उदाहरण लीजिये। " कोई मनुष्य हिंसा
से घृणायुक्त भय करता है, उस को एक पशु वध स्थान (slaughter-
house) में एक अच्छे दरमाहे की नौकरी मिलती है पर उस में
काम कसाई का करना होगा, बतलाइये उसे यह नौकरी स्वी-
कार करनी चाहिये या नहीं " अब उत्तर देने के पहिले हम
इन बातों में से एक का निश्चय कर लिया चाहें कि या तो
(१) इस में सङ्कल्प ही के समय पर ध्यान रखिये, उस के बाद
के समय की गणना मत कीजिये, (२) यदि इस को रखना
चाहिये तो भावनाओं की वर्तमान दशा (attitude) और सा-
पेक्षिक भाग को मत बदलिये , सदा एक सां रहने दीजिये,

और त्याग से मोहन, प्रलोभन, से दिन दिन अनिच्छा, और घृणा के धीरे२ लोप होने का लेखा उस को न करने दीजिये। सीधा प्रश्न यह हो जाता है कि (१०) रुपया वेतन के लिये क्या उस को अपनी घृणा को घोंट जाना चाहिये ? व्यवहार में तो इस प्रश्न के उत्तर देने के पहिले और बातों का ध्यान करना होगा, जैसे कि, क्या उस का प्रयोजन बड़ा भारी है ? अर्थात् क्या वह बड़ी दरिद्रता में है ? क्या निज के अतिरिक्त और लोगों का भोजन उस को जुटाना है ? इत्यादि। पर अध्यात्मिक रीति से विचार करने में इन बाहरी बातों को उठा देना चाहिये। यदि यह घृणा किसी निर्जीव पदार्थ से भी हो तो ऐसी घृणा को भी वेतन के लिये छिपाना अवश्यही कुत्सा करने के योग्य है, नीच है। और जब घृणा (या अप्रीति) किसी मनुष्य से हो तो इस को धन के आधीन करना तो प्रत्यक्ष ही नीचता है। जब तक एक जाति के लोग दूसरी नीच विरोधी, या विदेशी, जाति के लोगों से घृणा रखते हैं जैसे अरब के लोग हबसियों से, हिन्दू लोग मुसलमानों से या अंगरेज लोग चीन देश वासियों से तब तक उस जाति के सब लोग नीच जाति वाले से विवाहादिक स्वार्थ सम्बन्धी (या मेल) को, कि जिस से परस्पर उपकार रहता है, तुच्छ जानते हैं उन से घिन करते हैं। उदाहरण—यदि कोई हिन्दू नीच कुल में यह समझ कर विवाह करे कि विवाह करने से बहुत धन मिलेगा तो वह उस के उच्च कुल का पतन समझा जाता है और उस के आधीनी लोग भी उस को नीच कर्त्तव्याकर्त्तव्य विचार का समझते हैं। पर यह उस का नीच अभिप्राय ही है न कि नीच कुल का सम्बन्ध जिस से उन लोगों को घृणा (या तिरस्कार) होती है, क्योंकि यदि इस के बदले में उन दोनों में पहिले से प्रेम रहता और एक को लोग जानते होते तो लोग उसे दोषी न ठहराते, उस को निन्दा न करते, दण्ड न देते, और इस

सामाजिक नियम के उल्लंघन करने के अपराध को तुरत क्षमा कर देते। अतएव घृणा को हटा देने के लिये कोई उच्च विस्तर्स स्कार चाहिये। धनप्रेम का इस के ऊपर कोई अधिकार नहीं है।

तब दूसरे मनो विकार 'भय' के ऊपर इस का कोई अधिकार है? घृणा के ऐसे भय को भी यहां सच्चा स्वाभाविक ज्ञान समझना होगा, अर्थात् भय किसी यथार्थ बुराई (या दुष्टता) को प्रत्यक्ष उपस्थित देख कर उपजा है। इन भ्रम जनक विषयों को इस से अलग कर देने पर, भय स्वयं प्राण रक्षा के लिये न्यायानुकूल (यथान्याय) हेतु है और कोई इस से उच्च हेतु न रहने पर जो इस के अनुसार कार्य नहीं करता है उस को हम लोग निन्दा करते है, उस को दोषी ठहराते है। यदि समुद्र में जहाज चलते २ कुहरा से में पड़ जाय और उस का कप्तान आलस और विश्रामानुराग से उस की गति न धीमो करे बार २ पानो का थाह न लेता जाय और सोटी न देता रहे, तो जो कुछ भयानक घटना होगी, जो कुछ आपत्ति आवेगी उन सब के लिये इसी को उत्तरदाता मानेंगे, सब में इसी का दोष देंगे, और यदि अपने प्राण को छोड़ कर और किसी पर कोई आपत्ति आने को शङ्का न हो तो भी उस को अपराधी ठहरावेंगे। जब इतिहास लेखक कहते है कि एक देश में मरी फैली हुई है और वहां के लोग इस आवश्यक भय से घबड़ा कर स्त्री पुरुष एक स्थान में एकट्ठे होते और भय को भगाने के लिये खूब मदिरा पीते और निर्लज्ज गान गाते हैं, तो इतने घोर भय को इस नीच विलास से रोकनाही सोच कर हम लोगों को भय होता है। परन्तु जब कोई मनुष्य इसी दशा में अपने भय (त्रास) को रोक कर रोगियों की सेवा करे, निरोगियों को बचाने के लिये पहिले ही से उपाय करता रहे, और मरते हुओं की आवश्यक सेवा करे, तो ऐसे मनुष्य की इस पवित्र सुस्थिरता को हम लोग सम्मान पूर्वक देखते हैं। अतएव

बहुतेरे ऐसे 'हेतु' हैं जिन को कोई अधिकार भय के रोकने (या निवारण करने का) नहीं है, और बहुतेरे ऐसे भी 'हेतु' हैं जो भय को रोक दे सकते हैं और ऐसा कर सकते हैं कि मानो भय है ही नहीं। उन विलासियों के विरुद्ध हम लोग 'भय' का पक्ष करते हैं, और उन दयालुओं के सङ्ग इस के (भय के) पराजित होने ही में हर्ष मनाते है,। तब इन दो छोरों के बीच इसी मध्य मानो "चित्त संस्कार लाभविलास (धन-प्रेम), को कहां रखना चाहिये? दोनों पक्ष के दृष्टांत मिल सकते हैं। अनुमान कीजिये कि किसी बड़े और भयानक पर्वत की बड़ी ऊँची चोटी पर कोई जाना चाहता है और यद्यपि वह इस के जोखिम को जानता है तौ भी वह अपनी कृपणता से दो तीन पद दर्शक को अपने सङ्ग नहीं ले जाता है क्योंकि उन को कुछ देना पड़ेगा,और यह निश्चय कर के पहाड़ पर चढ़ता है कि मरें या बचें पर रुपया बचना चाहिये। अब यदि वह मर जाय तो कोई उस पर दया न करेगा और वह यदि बच जाय तो कोई यह न कहेगा कि इस को बचना उचित था। सब यही कहेंगे कि उस ने नीच कार्योत्पादक हेतु का अनुसरण किया। अब दूसरा दृष्टान्त लीजिये, अनुमान कीजिये कि किसी दरिद्र 'मनुष्य को समुद्र यात्रा से एक प्रकार का भय बूझ पड़ता है, जैसा प्राय: बहुत लोगों को होता है। इस दरिद्रता में उस को एक अच्छे वेतन की नाविक का काम मिलता है और कोई दूसरा उपाय न मिलने पर वह इस भय को रोक कर जाने का निश्चय करता है। अब इस अवस्था में उस को वह दोष लोग न लावेंगे जोकि पहाड़ पर चढ़ने वाले को लगाया गया था, वरञ्च लोग यह विचारेंगे कि इस ने उत्तम चित्तसंस्कार का अनुकरण किया। मेरी समझ में ये दोनोंही चित्तसंस्कार समान थे और दोनों में से किसी एक का 'अधिकार' दूसरे पर न रहने के कारण कर्त्ता ने "परिणाम दृष्टि

के अनुसार जैसा पसन्द किया वैसा किया। इस में किसी प्रकार से वह दोषी नहीं है। स्वयं 'भय' को किसी एक ढंग का कर्तव्याकर्तव्य सम्बन्धी मोल नहीं हो सकता है। भय की वस्तु का जब तक मोल (worth) न जानें तब तक इस का निश्चय नहीं कर सकते, जैसे कि इष्ट वस्तु के अनुसार 'आशा' कभी उच्च और कभी नीच हो जाती है, और 'प्रीति' हृदय को जीतने वाली वस्तु के अनुसार कभी शोभायुक्त और कभी पद भ्रष्ट समझी जाती है। स्वार्थी मनुष्य अपनेही लिये और परोपकारी अधिक कर के दूसरों के लिये भय करेगा, और इन भयों का कर्तव्याकर्तव्य सम्बन्धी मान उनहीं विषयों से जाना जायगा जो इन को चित्त में डालते हैं। अतएव कर्तव्याकर्तव्य सम्बन्धी विधान (या नियम) में यह मनो विकार ("भय") कोई निश्चित (ठीक) और अचल (अपरिवर्तनीय) स्थान नहीं मांग सकता है।

अब तीसरे मनो विकार, 'क्रोध' को लाभानुराग या धन प्रेम से तुलना करते हैं। यहां भी वही बात याद रहे कि यथान्याय स्वाभाविक ज्ञान का मुख्य रूप यह है; क्रोध में कोई कृत्रिम माहात्म्य का धब्बा नहीं लगा है। यदि कोई लड़का ऐसा हो कि थोड़ा भी छेड़ने से तुरत क्रोधित हो जाय और थोड़े धन के लिये भी बड़ा लालच करे, और यदि उस का क्रोधी स्वभाव छुड़ाने के लिये कोई आदमी उस से, यह प्रतिज्ञा करे कि 'जै बार तुम अपने क्रोध को रोकोगे तै बार ५) रुपया तुम्हें हम देंगे', और इस पर वह लोभ के वश होकर अपने क्रोध को रोकने २ बाहर से अच्छा देख पड़ने लगे, तो क्या उस की भीतरी सुधार भी वास्तविक होगी? क्या उसका वह चित्तसंस्कार जिस को वह पोस कर बढ़ा रहा है उस से कुछ उत्तम है जिस को कि उस ने भीतर रोक रक्खा है? कदापि नहीं। क्या इस रोकावट से उस का हृदय बदल

गया है, क्रोधी से क्षमावान हो गया है? या केवल उस का क्रोध ऊपर न देख पड़ने पाता है? स्वार्थी सामर्थ लेकर यह रोकना बुरा है। धूर्तता-युक्त नम्रता (या कोमलता) दिखलाना कपट वेष (hypocrasy) के सामने जो उस से अहङ्कार से बात चीत (व्यवहार) करता है, अपना काम निकालने के लिये नम्रता से व्यवहार कर और फिर काम निकल जाने पर उस के पीठ पर उस को सरापे, तो ऐसे आदमी से भठियारे और पातकी को लोग अच्छा समझते हैं। जब कभी लाभ के लिये क्रोध को रोकते हैं, जब उचित क्रोध हृदय में रहने पर विनीत रहता है क्योंकि वह अपना क्रोध प्रकाश नहीं कर सकता है, तो ऐसे आत्म-दमन को हम लोग अधम जान कर घिन किये बिना नहीं रह सकते। ये दोनों चित्त-संस्कार एक ही प्रकार का अपराध करते हैं, पर धन के लिये जो अन्याय (या उपद्रव) किया जाता है उस को क्रोध से किये हुये अन्याय से अधिक नीच दुष्ट और घोर समझते हैं। अतएव यह मनो विकार (क्रोध) धन-प्रेम से अवश्य ही उच्च पद का अधिकारी है।

(४) गौण स्नेह और मुख्य मनो विकार।

अब उन्हीं मनो विकार के साथ गौण स्नेह को जांचिये। एक पन से तो ये गौण सांसर्गिक स्नेह और घृणा दोनों एक साथ मिल कर कार्य करेंगे, एक का विरोधी दूसरा न होगा। क्योंकि ये दोनों एकही कार्य करने को उद्यत होते हैं, अर्थात् दोनों ही अपने को घृणा की वस्तु से अलग करते हैं, भेद इतनाही है कि गौण सांसर्गिक स्नेह घृणित वस्तु से स्वयं हो अलग हो जाता है पर 'घृणा' उसी को अलग हटा देती है। पर इन दोनों का भेद निकालने के लिये दूसरे पक्ष का उदाहरण खोजना होगा। यदि कहीं कुत्तों का भोज हो और उस में आप के कुत्ते को भी नेवता पहुंचे पर उस को यह भी

समाचार मिले कि एक लोमड़ी और एक बिल्ली भी उस भोजन में रहेंगी तो अब बतलाइये कि यदि आप का कुत्ता उस आनन्द में आय तब उस को आप अच्छा समझियेगा, या वह इस बखेड़े और अनरीस के भोज में जाना अस्वीकार करे तब उस का अधिक आदर कीजियेगा। यहां घृणा का प्रभाव अधिक है। क्योंकि सहानुभूति (sympathy) इस में बिगड़ जाती है और सार्वजनिक आनन्द में विघ्न मिला हुआ है।

वैसाही ऊंचा स्थान यथान्याय भय को भी मिलना चाहिये जब कभी यह गौण स्नेह के विपक्ष में आवे। भय के अवसर उपस्थित होने पर (जैसे कि समुद्र में आंधी आने पर, देश में मरी फैलने या वैरियों से नगर परिवेष्टित होने पर) रक्षा का उपाय करनाही विहित और अत्यावश्यक है और उस समय आनन्द की धुन में रहना अपराध है। जब वैरी लोग फाटक पर पहुंच कर किले को घेरे हुये भीतर लोगों को पकड़ने की धुन में हैं उस समय किले के भीतर गौण करुणा के भाव से, अर्थात अपने परिश्रम से बचने के लिये देखलौआ करुणा से, किसी रोगी को अगोरना और सब के साथ मिल कर वैरियों को न भगाना, दोष और अधम कर्म है। यहां भी गौण स्नेह नीच है और मुख्य भय उच्च है।

योग्य कारण युक्त 'क्रोध' के विरुद्ध भी गौण स्नेह अपना कोई अधिकार नहीं प्रकाश कर सकता है। यह चित्त-संस्कार पहिले दिखला चुके हैं कि,किसी प्रकार के अपकार (या हानि को रोकने के लिये उपजता है और उद्योग करता है। और जब वह अपकार कोई मनुष्य इच्छापूर्वक करता है और अपराध गिना जाता है, तब पहिले पहल यह (क्रोध) करुणामय स्नेह के विरुद्ध खड़ा होता है। उस हानि-कर्त्ता की ओर से यह सब स्नेह खींच (हटा).लेता है और उस के स्थान से विमुखता का भाव और चलन धारण करता है। हानि

कर्त्ता की ओर से शिथिलता (या सुशीलता) उठा देना मनुष्यों में कर्त्तव्यकर्म के बचाने (पालन करने) की स्वाभाविक आड़ (आश्रय) है और इसको छोड़ना अर्थात् इसका आश्रय कदापि न करना सदसदाचार सम्बन्धी जीवन के प्रधान आड़ (बचाव) को दुर्दशा (या जोखिम) में डालना है । परन्तु यह आड़ दुखमय (दुष्कर) है, और यद्यपि हानि (द्रोह) के समय अत्यन्त कोमल (मृदु) स्वभाव वाले में भी पायी जाती है तथापि संगमिलु और शान्त स्वभाव वालों को तुरतही अप्रिय बूझ पड़ने लगती है । बहुत से प्रलोभक विषय इनके सामने आ जाते हैं, ये मानों सिखलाते हैं कि जो हो गया सो हो गया उनको जाने दो और तब फिर भी मेल मिलाप का सुख उठाने लगते हैं मानो कभी कुछ हुआ ही नहीं था । इस प्रकार से इस बखेड़े को छिपाना क्योंकि यह अप्रिय बूझ पड़ता है, और सब लोगों का एक साथ आनन्द में रहना मन भावन है, इस ध्यान से इस कर्त्तव्याकर्त्तव्य सम्बन्धी विघ्न (या बाधा) को छिपाना बुद्धि और नीति के विरुद्ध अपराध समझा जाता है और चित्त की अत्यन्त घबराहट (व्याकुलता) में ही क्षमा किया जा सकता है * यह भी मानना पड़ेगा कि गौण स्नेह प्रायः बहुत नहीं बढ़ने पाता है, मुख्य का बहुत कुछ अंग इस में बाकी रह जाता है । हम लोग उसको दयालु (मिलनसार) स्वभाव का कहते हैं जिस में यह स्वार्थहीन हेतु विद्यमान रहता है और जो दूसरे को दुख देने से हिचकता है और न कि दूसरे से पाते हुये दुख का ध्यान न करता है, और जो द्रोह चिन्ता से विमुख होने के कारण अपकार सहलेता और इसके बारे में कुछ कुलाहल न मचाता है, और न कि अपना स्वत्व देखलाता

* पाठक को यहां पर याद रखना चाहिये कि यह वर्णन 'मुख्य' क्रोध का है, गौण (प्रतिहिंसाशीलता, बदला लेने की अभिलाषा) का नहीं ।

है। अब जो ऐसे मनुष्य को केवल अपनीही हानि होती हो और वह कर्त्ता के दुष्टता (या द्रोह) से न उपजी हो तो उसको मिलनसारी या दयालुता सहजही "मुख्य क्रोध" के ऊपर स्थान ग्रहण करेगी। परन्तु यदि कोई इच्छा पूर्वक (जान बूझ कर) अपकार करे, अर्थात् बुराई करने के नीयत से बुराई करे, तो उससे उपजे हुये क्रोध के रोकने के लिये मेल मिलाप की इच्छा यथेष्ट सामर्थ्यवान नहीं है पर इसके ऊपर के चित्तसंस्कार इसको रोक सकते हैं। * "क्षमा करो और भूल जाओ" इस कहावत का तब क्या आशय है? इससे यह जानना चाहिये कि अपकार करने वाला जब पश्चाताप करे तब उसके अपराध को क्षमा करो परन्तु भूल जाना तो हम लोगों की सामर्थ में नहीं है; क्षमा और भूलना इन दोनों शब्दों को गवारों ने एक साथ मिला दिया है। अपना स्वभाव हम लोगों के अधिकार में है, पर अपनी स्मरण शक्ति नहीं। पात्र बदल जाने पर अपने चित्त को बदल सकते हैं, पर जो अनुभव एक बार हो चुका है उसको मिटा नहीं सकते हैं; जो एक बार हमारी बुराई कर चुका है उसके बारे में हमारा विचार (समझ) वैसाही अब नहीं हो सकता है जैसा कि उसके पहले था। परन्तु इस कहावत के दो अर्थ ठीक होते हैं और वे दोनों भारी (गाढ़) उपदेश हैं—(१) पहला तो यह है कि "जब बुराई (अपराध) करने वाले को क्षमा कर दिया तब उसके अपराध की फिर चर्चा मत करते रहो और इसका स्मरण करना छोड़ दो। और (२) दूसरा अर्थ यह है कि जो तुम्हारे सामने विनीत न हुआ है (जिसने अपराध न क्षमा कराया है) उस पर भी क्रोध करने की अवधि बांधो और सदा क्रोध मत

* अर्थात् कर्तव्याकर्तव्य सारणी में जो इसके ऊपर रक्खे हुये हैं।

रक्खे रहो, क्रोध केवल अपकार के समय का सामान है जो अपकार कि फिर पुराना पड़ कर नाश हो जाता है यह समझाकर क्रोध को शान्त करो, नई २ दशाओं में नई २ संभावनायें दया (या महानुभूति) की होती हैं। अर्थात्

गौण स्नेह और क्रोध में एक प्रकार का झगड़ा होता है। अपकार से उपजा हुआ क्रोध दोषी को दण्ड देने के लिये प्रेरणा करता है। अब यह अपराध किसी ऐसे से होता है जो हम लोगों के रक्षा और प्रेम का पात्र है, या कोई ऐसे से होता है जो हम लोगों के आधीन है और जिस को हम लोग स्वयं दण्ड दे सकते हैं, तो इस अवस्था में दण्ड देने में चित्त में बड़ी रोकावट होती है। जो चाहता है कि दण्ड घटा दें या न दें। ज्योंही क्रोध उपजता है त्योंही दण्ड देने में अरुचि होती है। दोषी को जब तक घुड़कें डपटें या कुछ कहें इसके पहले ही यह अपराध को हलका समझने को कहती है और यह भी बतलाती है कि हम लोगों के कोमल प्रकृति (स्वभाव) के लिये यह बड़ा कठोर है और अतएव इसको टाल देना चाहिये। ऐसे स्वभाव वाले माता पिता के बहुतेरे लड़के अपनी चतुराई से समझ जाते हैं कि जैसे जल वृष्टि के बाद धूप जितनी कड़ी होती है उतनी और कभी नहीं, वैसेही प्रत्येक झिड़की या दण्ड के बाद उसका अधिक लाड़ प्यार होता है और जितना ही अधिक अपराध करता जाता है उतनाही अधिक दुलार होता है; और इससे वह आत्म-क्षमा आत्म-स्नेह और अपने दोषों की बात बनाकर टालने का पाठ पढ़ता है, माता पिता के इसी स्वभाव के कारण विद्वानों ने कहा है कि मां बाप अपने सन्तान को आप पढ़ाने के योग्य (उपयुक्त) नहीं हैं, और उनको चाहिये कि अपने लड़कों के लिखाने पढ़ाने का काम किसी ऐसे पक्षपात रहित रक्षक (प्रतिपालक) को सौंपे कि जिस में न्याय की दृष्टि उपद्रवहीन है और गौण स्नेह का

अनुराग नीत-स्नेह से बढ़ने नहीं पाता है।

इन विचारों से यह निश्चय हुआ कि मुख्य "मनोविकार" का स्थान 'गौणस्नेह' से ऊपर है।

(५) मनोविकार और पराक्रमानुराग।

अब मुख्य मनोविकार और पराक्रमानुराग (अर्थात् किसी हेतु से अपने पराक्रम दिखलाने की अभिलाषा) का परस्पर सम्बन्ध निश्चय करना चाहिये।

इन दोनों का भेद तो स्पष्ट ही है; बाहरी वस्तुओं के व्यापार से मनोविकार उपजता है, परन्तु पराक्रम का आनन्द तब मिलता है जब हम लोग स्वयं कार्य करते हैं। पहले में निरुद्योगी निर्बलता अपनी रक्षा के लिये खड़ी होती है, और पिछले में, पराक्रम बाहुल्य (या पूर्ण पराक्रम) किसी पर आक्रमण करता है जो इसके अधीन हो जायगा। अतएव मनोविकार जीवन शक्ति के घटने को विरुद्ध कहता है, और सकारण पराक्रम जीवन शक्ति को बढ़ती चाहता है। "जीवन एक लाभ समझा जाता है" * इस बात को मानने पर मनोविकार का स्थान स्पष्टही पराक्रमाभिलाष के नीचे देख पड़ता है, क्योंकि यह जय करते हुये आगे नहीं बढ़ता है परन्तु केवल अपने आश्रय स्थान में वैरियों को आने से रोकता है। जो वस्तु अपने अधिकार में है उसी को यह बचाये रखता है, नई वस्तुओं को अपने अधिकार में नहीं लाता है।

अब आप यह पूछ सकते हैं कि यह तो शरीर सम्बन्धी या पदार्थसम्बन्धी भेद है, इससे सदसदाचार सम्बन्धी भेद का ज्ञान कैसे हो सकता है? इस विषय में तो 'पराक्रम' समपद है, और थोड़ा या अधिक बल होना तो थोड़ा या अधिक धर्म होने के समान नहीं है? हां यह सच हो सकता है, परन्तु

* इसको रजोगुणी विशेष करके मानेंगे।

"पराक्रमानुराग' निम्नलिखित कारणों से 'मनोविकार' के ऊपर है—

(अ) यदि हम लोगों में औरों से (किसी प्रकार का) अधिक पराक्रम है तो इसको दिखलाना हम लोगों का कर्तव्य है. क्योंकि इसी रीति (प्रकार) से मनुष्यों की उत्तमोत्तम भलाई हो सकती है जो वे अपना पराक्रम न दिखलावें तो बलहीन मनुष्य दूसरों की क्या भलाई कर सकते हैं ?

(इ) पराक्रमी लोगों का पराक्रमाभिलाष अपने सहवासियों का अनुशासन करने का उद्योग करने के लिये प्रेरणा करता है; इस से वह मनुष्यों के सुख दुख पर कारणा करता है और उनका (कल्याण) कुशल भी करता है।

(उ) अपने सामर्थ का अन्तर्बोध (ज्ञान) और इसको कार्य में लाने की इच्छा जब 'सम्मान' (भक्ति) के ठीक २ आधीन हो तब उत्तम है, और इनही के द्वारा सब बड़े २ वीर * संसार में हुये हैं। परन्तु जब पराक्रमानुराग किसी उच्च चित्त-संस्कार के आधीन नहीं रहता है, तबही इस से मनुष्य उपद्रवी और प्रजापीड़क हो जाता है।

(ऋ) स्वतंत्रता (या स्वाधीनता) के अनुराग में भी सार अंश पराक्रमानुराग, परन्तु यथोचित्त पराक्रम ही है।

कोमल और नम्रशील जीवन तो अच्छा है ही; पर जिस मनुष्य की स्वाभाविक (सहज) योग्यता और शक्ति (या उत्साह) ने उसको मनुष्यों का स्वाभाविक अधिपति (राजा) बना दिया है, उसके पराक्रम के अनुराग और अभ्यास (exercise) को सब लोगों का अन्तःकरण क्षमा कर देता है। (अर्जुन के कार्यों को विचारिये)

यह (पराक्रमानुराग) मनुष्यों में तुच्छ वस्तुओं की अभि-

* यहां पर 'वीर' शब्द से बलवीरही नहीं बुद्धि वीर, धर्म वीर, शास्त्रवीर, इत्यादिक भी समझना चाहिये।

लाघा,छोड़कर उच्च की आकांक्षा उपजाता है। यह मनुष्य जाति को उपकार और कल्याण की चिन्ता कराता है।

अतएव 'पराक्रमानुराग' निःसन्देह 'मनोविकार' से ऊंचा है॥

(६) विद्यानुराग और पराक्रमानुराग।

इसके अनन्तर अब "गौण मनःकल्पना" का स्थान खोजिये। इसके यद्यपि तीन भेद हैं, अर्थात् बुद्धिविषयक, सौन्दर्य विषयक, और धर्म विषयक चिन्ता, तो भी तीनों एक ही गण में आ सकते हैं, और "विद्यानुराग" कहलाते हैं, अर्थात् उच्च प्रकार के मानवी विचार और अनुभव के लिये अत्यासक्ति युक्त (या परमोत्साहयुक्त) चिन्ता (या उत्कण्ठा)।

इन तीनों को यह सामान्य लक्षण है कि ये सब गौण चित्त संस्कार हैं और ये मुख्य के पात्रों से सम्बन्ध नहीं रखते हैं पर ये मात्र मनुष्य के मन में जिन भावना (या मति) और अनुभवों को उत्पन्न करते हैं उनसे प्रयोजन रखते हैं— मति और अनुभव जो मनुष्य एक दूसरे से कहते हैं और वाक्य में गठित हो कर जिन से अनेक युक्तियां बनती हैं, शास्त्र रचे जाते हैं, साहित्य और दूसरे प्रकार की शिल्प विद्या सम्बन्धी वस्तुएं रचित होती हैं, भिन्न २ मत के धर्म शाखा और आचार बनते हैं, और जो अन्त में बुद्धि से जांचे जाकर प्रकृति के इतिहास में क्रम से स्थान पाते हैं। इस विषय में हम लोग पदार्थ और जीवों से जैसे रूप हैं उनका विचार नहीं परन्तु उन पदार्थों और जीवों के बारे में मनुष्यों ने जो कुछ सोचा और कहा है उसका विचार करते हैं। परन्तु यह (विद्यानुराग) उन वस्तुओं से भी विरक्त नहीं है इस में उनके लिये सच्चा विश्वास और प्रेम का भी सहारा रहता है जो विश्वास और प्रेम उच्च प्रकार की विद्या के उपार्जन में प्रकाशित होते हैं; बुद्धि, भावना, और धर्म चिन्ता को परिपूर्ण कर देना चाहते हैं। यह मनुष्य को

सत्ता उदार चित्तवाला बना देता है और जिन विषयों से मनुष्य बुद्धिमान कृपालु और महाशय (भलामानुस) हो सकता है उनसे प्रेम दिखाता और दूसरों को भी यह सब सिखलाने को प्रेरणा करता है और उस में आनन्द देता है. अर्थात् मनुष्यों को जैसा होना चाहिये वैसा बनने को कहता है।

परन्तु 'पराक्रमानुराग' दूसरों को अनुशासन करने के लिये, दूसरे पर अपना अधिकार रखने के लिये हम लोगों को प्रेरता है और जो चित्त संस्कार मनुष्यों में प्रस्तुत (विद्यमान) हैं उनहीं को यह समझता है और उतर देता (respond) (या पूरा करता) है।

अतएव 'विद्यानुराग' *'पराक्रमानुराग' के ऊपर अपना स्थान ग्रहण करता है॥

(७) 'सुख्य स्नेह' और आश्चर्य प्रशंसा।

अब केवल दो प्रकार के चित्तसंस्कारों का स्थान नियत करना बाकी रह गया है, सुख्य स्नेह "सुख्य मनः कल्पना"। स्नेह के लिये मनुष्यत्व का होना अत्यावश्यक है, मनुष्य के अतिरिक्त यदि और किसी वस्तु पर स्नेह प्रकाश करते हैं तो उसको भी उस समय मनुष्य के ऐसा समझते हैं। इस में सन्देह नहीं है कि मनुष्यत्व (personality) संसार में सब से उत्तम (या उच्च) विषय है, विश्व (संसार) का मानो मुकुट रूप और इसके ऊपर भी जाने वाला है; इस कारण से स्नेह. जो कि इसी के साथ २ ऊपर चढ़ता है, वह चित्तसंस्कारों में अवश्य सब से उत्तम (या उच्च) होगा। अतएव 'मनः कल्पना' का विचार पहले करना चाहिये, पर दोहो (आश्चर्य और प्रशंसा) का क्योंकि तीसरा, 'सम्मान' (भक्ति), बदल कर सब से श्रेष्ठ

* Love of Culture का ठीक २ अर्थ 'विद्यानुराग' से नहीं निकलता है, पर अब तक कोई यथार्थ शब्द मुझे नहीं मिला है।

पूर्ण रूप का स्नेह हो जाता है । इससे 'स्नेह' का स्थान 'आश्चर्य' और 'प्रशंसा' के ऊपर है। प्रति दिन के अनुभव में भी यह बात प्रमाणित है । यदि कोई विद्यार्थी अपनी विद्या के अनुसरण (उद्योग) में, कोई चित्रकार अपनी कल्पना के अभ्यास में, अपने बाल बच्चों को भूखों छोड़ दे, या उन्हें शिक्षा न दे, तो उसको सबही लोग दोष देंगे । यदि कोई मनुष्य अपने सब धन को अपने पुस्तकालय, मानमन्दिर (यह्यादिदर्शनस्थान), चित्रशाला, या दुर्लभ प्राचीन वस्तु संग्रह, में उड़ा दे कि जिससे दुःख में पड़े हुये अपने सुहृद (मित्र) को सहायता नहीं कर सके; या यदि सब लोगों पर कोई विपत्ति आ पड़े और उस समय वह इन बहुमूल्य द्रव्यों को गले लगाये रहे और बेचकर उस आपत्ति को न दूर करे, तो उसका अपराध कोई नहीं क्षमा करेगा, सभी उसकी निन्दा करेंगे।

'आश्चर्य' और 'प्रशंसा' के आपस के सम्बन्ध में ऐसी कोई बात नहीं देख पड़ती है कि जिस से किसी एक को दूसरे से ऊंचा स्थान दें । जो दृश्य (phenomenon) अकस्मात् आ पड़ता है उस पर 'आश्चर्य' होता है (अर्थात् अद्भुतदर्शन से आश्चर्य होता है) और यह पूछता है कि 'यह कहां से आता है और कहां जाता है?' और 'प्रशंसा' विद्यमान पदार्थ या जीव (मनुष्य) पर होती है; यह पूछती है कि 'यह मुझे क्या कहता है? यह किसके सदृश है?' इन में से पहला बुद्धि के विषय में बड़ा उपजाऊ (सफल) है, यह प्रधान (अग्रगण्य) विज्ञानवेत्ताओं के मन का विदित लक्षण है, अर्थात् बड़े २ विद्वानों के मन में इसका बड़ा प्रभाव रहता है, बहुत विषयों पर आश्चर्य होने से उसके जानने की इच्छा होती है और उसको किसी प्रकार से जानकर मनुष्य अपने ज्ञान को बढ़ाता है। दूसरा, 'स्नेह' के बहुत निकट पहुंचता है, यद्यपि

यह निर्जीव पदार्थों पर भी हो, जैसे मैदान के फूल, और सूर्यास्त की शोभा और जब किसी प्रिय मनुष्य पर यह (प्रशंसा) आता है तब उसके स्नेह को और भी बढ़ा देता है, और दूसरों के नहीं तो, शिष्ट (या सुरस, सूक्ष्म) प्रकृतिवालों में यह सम्बन्ध काल के बीतने से नष्ट नहीं होने पाता है। जिस में चित्तसंस्कार ठीक ठीक स्थान पर हैं उनके लिये अति स्नेह पात्र का सौन्दर्य घटने न पावेगा। *

ऊपर की व्याख्या से ऐसा कुछ नहीं निकलता है कि जिस से 'आश्चर्य' और 'प्रशंसा' (स्तुति) का स्थान एक दूसरे के ऊपर हो; पर किससे मनुष्यों को कितना लाभ होता है, यह यहां पर निश्चय करने की कोई आवश्यकता नहीं है, यह परिणाम सम्बन्धी विषय है।

(८) तीनों मुख्य स्नेह।

इसके आपस के सम्बन्ध को निश्चय करने के पूर्व इनके विषय में कुछ विशेष बातें जान लेना अत्यावश्यक है। मातृ पितृ सम्बन्धी स्नेह—(अ) हम लोगों को सम्मति के बिना यह अपना अधिकार हम लोगों पर नहीं दिखलाता है; हम लोगों ने अपनी इच्छा से अपना जीवन उनके अधीन कर दिया है, इस से अब उनको टालना केवल प्रकृति (जगत्) की आज्ञा का अनादर करनाही नहीं है, पर अपने को आपही दोषी भी ठहराना है। (इ) इनके निर्बन्ध (भार) मुख्य करके (pre eminently) पराये के आधीन किये जाने के अयोग्य हैं; हम लोगों के व्यक्तित्व में ये ऐसे घुसे हुये हैं (ऐसे स्वाभाविक या अभ्यजात हो रहे हैं) कि यदि हम लोग स्वयं उनको न पूरा करें तो कोई दूसरा मनुष्य उसको चुन कर उठा नहीं सकता है (अर्थात् उनका भार अपने ऊपर नहीं ले सकता है) और उसी रीति से पूरा नहीं कर सकता है, निबाह नहीं सकता है। इस से लोग यह न समझें कि दूसरों को बच्चों की

रचा का भार लेते वे यह रोकता है, परन्तु यह कहता है कि यदि दूसरे लोग इसका भार अपने ऊपर लें तो यह कार्य उन आभ्यन्तरिक गुणों से हीन रहता है जिनको कि ईश्वर ने माता पिता के हृदय में इस कारण रचा है कि उन्हें परिश्रम तो विश्राम और रचा का भार आनन्द बूझ पड़े, और दोनों जीवों का सुख से एक साथ बंधा रहना ही दोनों का एक उपदेश होय। यह लचण दूसरे प्रकार के स्नेहों में नहीं पाया जाता है। मार्ग में किसी मनुष्य को रोग से व्याकुल देखकर यदि एक आदमी उसकी सेवा न करे तो कोई दूसरा आकर कर सकता है। और यदि मैं अपने स्नेही मित्र का ध्यान छोड़ दूं तो इस से उसकी आशा तो भंग होगी परन्तु उसका हृदय शून्य न हो जायगा, उसके दूसरे भी मित्र होंगे जो मुझ से अधिक दृढ़ (सच्चे) मित्र हों। उस छोटे बच्चे के लिये तो एकही माता और एकही पिता है, यह सम्बन्ध निराला (unique) है और उसके लिये जो कुछ है सो यही है। (३) इस स्नेह के मुख्यतम तत्व का समय परिमित है (अर्थात इसका पूर्ण प्रभाव, अधिकार, सदा नहीं रहता है); जैसे कि छोटे जानवरों में देखा जाता है कि उनके बच्चों की पराधीनता का समय जब बीत जाता है तब यह एकदम नष्ट (लुप्त) हो जाता है। मनुष्यों में यह माता पिता और लड़कों के जीवन भर रहता है पर पहले की स्वाभाविक शक्ति उतनी नहीं रहती है और पीछे केवल समान प्रेम दोनों में रह जाता है; और सयाने पर माता पिता के प्रति पुत्र (और पुत्री) का स्नेह उस प्रकार की मित्रता हो जाता है और अन्त में जब माता पिता रोगग्रसित हो जाते हैं तो इस स्नेह में करुणा भी आकर मिल जाती है।

अतएव इन पूर्वोक्त तीनों गुणों (इसका स्वेच्छापूर्वक ग्रहण, पराये के अधीन किये जाने की अयोग्यता, और परिमित

काल) से 'मातृपितृ स्नेह' अवश्यही 'सांसर्गिक स्नेह' के ऊपर स्थान ग्रहण करता है। उदाहरण—एक माता अपने बच्चे को दूध पिला रही है अतएव उससे अलग नहीं हट सकती; यदि उसके किसी संगी को लाल बोखार (एक प्रकार का कुतका बोखार) आया हो तो उस माता को उचित है कि इस बीमार की सेवा करना स्वीकार न करे, दूसरे बेला चाहे वह कितनी ही सेवा उस अकेले बीमार की करने को तत्पर हो। पुन: यदि समाचार किसी को मिले कि उसका मित्र एक दूर देश में बैरियों के हाथ में पड़ गया है और बहुत धन दंड देने से छूट सकता है; अब यदि उसकी अत्यन्त मित्रता के कारण वह अपना सब कुछ बेच कर उसको बचाना चाहे, और वह यदि स्वयं बाल बच्चे वाला हो तो वह ऐसा नहीं कर सकता है, क्योंकि वे लड़के सब दरिद्र हो जायंगे और पढ़ना लिखना उनका बन्द हो जायगा।

साधारण मित्रता का स्वत्व अत्यावश्यक दया के प्रार्थना से भी नोचाही है। यदि कोई भारी कार्य (जैसे कि कोई ग्रन्थ रचना या विज्ञान शास्त्र का कोई प्रश्न बनाना इत्यादिक) में मित्र की सहायता कर रहा हूं और उसी समय सड़क पर कोई आदमी गाड़ी से पिच जाय या कोई भारी बीमारी में पड़ जाय कि जिस में तुरत उपाय न करने से मर जा सकता है तो मेरा चिकित्सक होने पर भी वहां न जाना अपराध है, मुझे अवश्य मित्र के उस कार्य को छोड़ कर निस्सन्देह वहां जाना चाहिये। अतएव तीनों प्रकार के स्नेह में से 'सांसर्गिक स्नेह' और दोनों से नोचा है, यद्यपि पूर्वगत चित्त संस्कारों से यह ऊंचा है।

शेष दोनों प्रकार के स्नेह में भी यह भेद है कि 'करुणा' एक आकस्मिक चित्त संस्कार है, अपने समय पर बड़े झटके से आ जाती है; परन्तु 'मातृपितृ स्नेह' अपनी अवधि में नित्य

रहता है उसका काल हम लोग आप भी चुन सकते हैं, परन्तु जिन समयों में करुणा उपजती है वे हम लोगों के अधिकार से बाहर हैं वे उन घटनाओं से नियत किये जाते हैं जिनको कोई अपने वश में नहीं रख सकता है। 'मातृपितृ स्नेह' जनित कार्यों को कोई कोई आकस्मिक लाभ के लिये रोक भी सकते हैं। इस प्रकार से इसके कार्य को क्षण भर के लिये रोकने से कुछ बिगड़ेगा नहीं वरच, इसका गुण और भी बढ़ जा सकता है, बच्चों का माता पिता के स्नेह में नियम विश्वास रखने का अभ्यास करना बुरा नहीं है। इन दोनों में किसी वास्तविक विरोध होने की कोई आवश्यकता नहीं है। इतना याद रखना चाहिये कि 'करुणा' की प्रेरणा में हम लोग कोई ऐसा कार्य न कर बैठें जो अपने लड़के के सनातन निर्बन्ध के विरुद्ध (असंगत) हो, जैसे कि उसकी प्रयोजनीय (आवश्यक) रक्षा (या प्रतिपालन) का त्याग करना, नहीं तो वह स्वयं ही करुणा (दया) का पात्र हो जायगा; दया के कार्य में गये और तब दया हो के कार्य में फिरना पड़ेगा; पर दोनों में यह भेद होगा कि कर्तव्य करने के उत्साह से तो गये थे परन्तु फिरने के समय उत्साह के बदले चित्त में पश्चात्ताप रहेगा।

परन्तु 'करुणा' बड़ी तीक्ष्ण (प्रखर) होती है; 'मातृपितृ स्नेह' से इसका फैलाव (scope) विश्व में अधिक है; और मनुष्य के जीवन भर यह रहती है। इन तीन लक्षणों से इसका अधिकार 'मातृपितृ स्नेह' के ऊपर है, यह पिछला अपने अवसर में कभी कभी उससे अधिक प्रभावी, अधिकार युक्त, और शासक (inperatire), हो जाता है (अर्थात् कभी कभी इसी की आज्ञा अधिक मानने के योग्य हो जाती है)।

(८) सम्मान (या भक्ति) का सर्वोत्कृष्ट स्थान।

अब केवल भलाई (या साधुशीलता, कृपा, उपकार) के

प्रति 'सम्मान' (भक्ति) या सर्वोत्कृष्ट स्थान स्थापित करना शेष रह गया है, जो ठीक २ व्याख्या (या वर्णन) करने से, ईश्वरासक्ति (अर्थात् ईश्वर की भक्ति) के समरूप हो जाता है। इस समता (अभिन्नता) को बहुत से योग्य मनुष्य भी नहीं समझ सकते हैं इसको बड़ी सावधानी से और मन लगा कर देखना चाहिये। यह मनुष्य के गुणों की मानो शिखा और किरीट है।

चित्त संस्कारों का क्रम जो अभी लिख आये हैं उसको देखने से प्रत्येक श्रेणी में निम्न लिखित एक या दूसरा भाव उत्पन्न होता है; कार्योत्पादक हेतु मर्यादा युक्त है, और इसकी प्रशंसा (बहुमान) करता हूं, इसके बन्धन में मैं हूं और इसकी आज्ञापालन करता हूं यह परिपूर्ण चित्त वाले (अर्थात् परब्रह्म) की आज्ञा है, और मैं इसका सम्मान करता है। इन में से दूसरे और तीसरे को मिलाने से उन में एक भेद बूझ पड़ता है। चित्त संस्कारों के झगड़े में यदि उस चित्त संस्कार की जय होते देखते हैं कि जिसका निर्बन्ध कर्ता के ऊपर है तो हम लोग उसकी इस चुनावट (preference) को सराहते हैं, अर्थात हम लोग उसके प्रति गुण दोष के जांचने वाले और न्याय करने वाले दर्शक का पद ग्रहण करते हैं कि जिसको योग्यता के अनुसार निर्णय करना और विश्वास योग्य मनुष्यों के पालने का अधिकार रहता है। कर्तव्याकर्तव्य विचार के विषय में हम लोगों का यही विशेष लक्षण युक्त भाव होता है; मनुष्यों के परस्पर आचरण में जो उचित होता है उसके प्रति यह भाव उत्पन्न होता है, चाहे वह उचित कर्म अपना हो या दूसरे का हो। इस से मनुष्य धार्मिक तो हो जायगा परन्तु वह शुद्धात्मापन (धर्मशीलता) से सूखा (शुष्क, फीका) देख पड़ेगा और यह मनुष्य के आचरण की विशेष विशेष कार्यों को एक एक करके विचार करता है; इसके

अधिकार (शासन) में जीवन खंड खंड करके देखा जाता है, इस विचार से कि यदि प्रत्येक खंड का विचार आने ही के समय होता जाय तो सम्पूर्ण अपना चेत आपही कर लेगा। घर हाट, और राज्य के सम्बन्धों को छोड़कर और विषयों से भरे हुये स्थायी (अक्षय) आभ्यन्तरिक जीवन आन्तरिक गुणों का स्थान इस में नहीं है जो कुछ ये कर चुके हैं उनको बारे में छोड़ कर और न तो इन पर यह स्नेह दिख जाता है और न घृणा।

परन्तु जिस मानसिक भाव (अवस्था) को हम ' सम्मान ' (या भक्ति) कहते हैं वह इन बातों को ठीक उलटे क्रम से देखता है। यह उचित (right) कार्यों को केवल अच्छा कर्म ही नहीं समझता है, पर मुख्य करके उचित (सत्) गुण (affection) का प्रकाश, स्वच्छ, सत्य, आत्मानुरक्त, उच्च स्वभाव का व्यापार (function) समझता है। केवल फलोंही से संतुष्ट न होकर यह उस मनोहर या महान् (या उत्कृष्ट) प्रकृति (स्वभाव) के पास पहुंचता है कि जिस में ये फल फले थे। इस प्रकार से फलरूप कार्यों से उनके उत्पन्न करने वाली प्रकृति के पास जाने में चित्त स्वभाव स्वयं भी बदल जाता है। प्रशंसा (सराहना) के स्थान में जो कि हर्ष (संतुष्टता) के साथ नीचे देखता है, यह (मानसिक भाव) सत्कार (सम्मान) हो जाता है जो सम्मान (भक्ति) के साथ ऊपर ताकता है, और अपने सामने किसी किये हुये कार्य को नहीं पाता है पर सजीव बातों को पाता है, जो कि इसको और दूसरे दूसरे अपरिमित उदाराशय (noblness) के साथ कर्मों का करने वाला है। अतएव यह सन्तुष्टता के बदले में प्रेम और लालसा हो जाता है। जब तक यह पलट (विभेद) नहीं होती है तब तक कर्तव्य वस्तु के ज्ञान में कोई पावन (ईश्वर सम्बन्धी या धर्म सम्बन्धी) अंग नहीं है। आचरण सम्बन्धी कर्तव्याकर्तव्य विचार

मनुष्यों के मध्य रहता है पर इस परस्पर के सम्बन्ध में भी जब किसी महात्मा के पावन चरित्र को देखते हैं तो चित्त में एक प्रकार की ज्योति उदय होती है, चाहे वह मानवीय हो या ईश्वरीय।

यद्यपि सम्मान (भक्ति) मनुष्य के प्रति होता है, तथापि बिना किसी भेद विचार के यह उसके समग्र व्यक्तित्व पर नहीं हो सकता है, पर केवल उनही अंशों पर होगा जो पहले सदसदाचार सम्बन्धी सराहना पा चुके हैं। सम्मान में सदसदाचार सम्बन्धी सराहना भी एक नियम है यद्यपि ये दोनों अनन्य नहीं हैं। जिसको सराहना नहीं हो चुकी है उस में सम्मान (भक्ति) नहीं आ सकता। इस से यह निकलता है कि किसी मनुष्य को सम्मान (भक्ति) पूरा पूरा बिना काम के नहीं दिया जा सकता, क्योंकि सर्वोत्तम मनुष्यों में भी अधूरापन या दोष पाया जाता है (जैसे कि चिड़चिड़ापन और डाह मात्सर्य तुच्छ विषयों पर व्यर्थ घमंड इत्यादि)।

यह भी देखना चाहिये कि सम्मान (भक्ति) का इस प्रकार का अर्थ जैसा कि ऊपर लिखा गया है यद्यपि दूसरों की साधुशीलता (भलाई) के प्रति प्रकाशित होता है, पर लक्षित करता है कि स्वभाव (character) का अर्थ पहले पहल हम लोगों ने अपने ही में सीखा (या समझा) है, क्योंकि दूसरे के आभ्यन्तरिक प्रकृति और स्वभाव, जिस पर सम्मान अब जाता है, ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो देखी सुनी या छूई जा सके; इसकी स्थिति (विद्यमानता) अनुमान (निगमन) से जानी जाती है अर्थात् भाषा (बोली) आकार और कर्म आदिक बाहरी चिह्नों से, जिन चिह्नों का अर्थ सब लोग एकही लगाते हैं। हम लोग स्वभाव-समता की कुंजी से दूसरों के मन का ताला खोलते हैं; जो कुछ दूसरे पर आरोपण करते हैं उसको हम लोग अपने भीतर उसके क्रियों और संचरणों को देख कर

जान लेते हैं। सच तो यह है कि जब दो विरोधी चित्त संस्कार आपस में लड़ते हैं और अन्तःकरण उन के गुण दोष की परीक्षा कर चुकता है उस स्थान में उनका इतिहास पूरा नहीं होता है। उस अपने भीतरी विचार स्थान (कचहरी) में जहां साधुशीलता की महिमा और सौन्दर्य्य, साधुत्व से पतन होने में गाढ़ लज्जा देखते हैं (या पाते हैं), वहां हम लोगों को इस प्रकार से लज्जा दिलाने वाला कुछ हम लोगों का अपना मुख नहीं है, और न यह हम लोगों के साथियों का मुख है जो लजवाता है, क्योंकि वे तो हम लोगों के समानही है । यह ऊपर से आती हैं; हम लोगों के परिमित मन में अपरिमित सम्पूर्णता (सिद्धि) का ध्यान रहता है; यह लज्जा वही दिलवाता है। अतएव सम्मान बाहर जाने के पूर्व भीतर ही दिया जाता है; वह कर्तव्याकर्तव्यविचार की नाईं केवल आज्ञासूचक नहीं है, इसके शब्द धर्म के घेरे की सीमा के भीतर पहुंचते हैं; बहुधा ऐसा होता है कि इसका आदेश अपनी रुचि के अनुसार न होने पर भी हम लोग मानते हैं; आवश्यकता या भय से नहीं पर गूढ़ सम्मति और उग्र प्रेम के साथ । यद्यपि कार्य्योत्पादक हेतु बहुत हैं और कर्तव्यकर्म के प्रश्न अनगिनत हैं तो भी इसका अधिकार नहीं पलटता है, यह प्रत्येक प्रश्न में एक के साथ रहते ही है। अतएव दूसरों का विचार करने में जो भेद कर्तव्याकर्तव्य विचार सम्बन्धी सराहना और सम्मान (भक्ति) के भाव में देख पड़ता है वह भेद हम लोग अपने अन्तर्बोध में भी पाते हैं। सम्मान (भक्ति) का भाव कर्त्तव्याकर्तव्य विचार विषयक भाषा से ऊपर कोई दूसरी उत्तम भाषा (बोली) में अपने को प्रकाशित करता है और स्पष्ट रूप से धर्म के क्षेत्र में पहुंचता है। यह पवित्रात्मा (या जीव), स्वर्गीय प्रकृति, पुण्यात्मा स्वभाव, और ईश्वरीय प्रेम के सामने रहता है, और अपनी चिन्ता से इन पात्रों का केवल उचित (सत् या शुद्ध)

या केवल धार्मिक भी (virtuous) कहना न सह सकेगा; यह उनको पावन, ईश्वरसम्बन्धीय, कहलाता है। भतएव, इस मन: कल्पना के बल से कर्तव्याकर्तव्यविचार की समग्र श्रेणी एक नया ही रूप धारण करती है। "तुम्हें अवश्य करना होगा" इस की घटती या बढ़ती ही अब चित्त संस्कारों का अन्तर नहीं जताती है। कर्तव्याकर्तव्यविचार अब परमोत्साहयुक्त हो जाता है। कर्तव्य अब प्रेम हो जाता है॥

ऊपर के व्याख्यान से यह सिद्ध हुआ कि सर्वोत्तम मनुष्यों में भी अधूरापन (या दोष) देख कर जिस पूर्ण स्वभाव के हेतु व्यग्र रहते हैं; चित्त में गाढ़स्थित वह साधुशीलता (या भलाई) की उत्तम कल्पना जिसकी पूर्ण विमलता के आगे हमलोग पश्चात्ताप और लज्जा से अपना सिर झुकाते हैं; वह निलवाही व्यक्तित्व (flowless personality) जिसके प्रति सम्मान (भक्ति) सत्कार और प्रेम के सहित ऊपर ताकता (या देखता) है; वह पात्र जिसके सामने हमलोग इच्छा पूर्वक आज्ञापालन और परमोत्साह-युक्त आसक्ति (उपासना) में झुकाते हैं (निहुरते हैं); – वह ईश्वर के प्रकृति (स्वभाव) की सर्वोत्कृष्ट सम्पूर्णता है (अर्थात् वह सर्वोत्कृष्ट अखंड, दोषहीन, ईश्वर की प्रकृति, स्वभाव है) अतएव, कर्तव्याकर्तव्य विचार में जिसको "साधुशीलता (भलाई) के प्रति सम्मान (भक्ति)" कहते हैं, वह धर्म (religion) में के "ईश्वर के प्रति प्रेम" के सममूल्यवान है॥

'सम्मान' और चित्तसंस्कारों के पहिले नहीं देख पड़ता पहिले यह छिपा रहता है और तब सदसदाचार के सम्बन्धों को बहुत विचारने और सदसदाचारसम्बन्धी भावों के अनुभव करने पर यह प्रत्यक्ष होता है और सब के ऊपर जा बैठता है।

'सम्मान' चित्तसंस्कारों की युद्धभूमि से सम्बन्ध नहीं रखता और न युद्ध की नियमों से काम रखता है, पर जब झगड़ा

समाप्त होकर शान्ति का समय पहुंचता है उस स्थान पर यह रहता है। यह ईश्वर तक पहुंचने की लालसा (या कामना) करता है ॥

मिश्रित कार्योत्पादक हेतुओं का

कर्तव्याकर्तव्यविचार विषयक मोल।

मिश्र चित्तसंस्कारों का कर्तव्याकर्तव्यविचार विषयक मोल मान और स्थान (श्रेणी) उनके संस्थापक अंगों के एकत्रसंचित मोल के द्वारा निश्चय किया जासकता है। परन्तु इस मान (मोल) की गिनती करना असम्भव है, क्योंकि इसके लिये बड़े सूक्ष्म और शोधित रीति से सब अंगों को अलग करना चाहिए और इसमें बहुतही बड़े उलझावे का लेखा भी है। इस कारण से इस विषय में जो ज्ञान हमलोगों को है यद्यपि वह अपरिष्कृत है पर उसीसे सन्तुष्ट रहना चाहिए। यह ज्ञान संस्थापक अंगों का एकत्रसम्मिलित फल है चाहे यह शीघ्र और गुप्त निगमन व्यापार का फल हो, या इसको तात्कालिक ज्ञान (intuition) समझिए। आवश्यकता पड़ने पर इन मिश्र चित्तसंस्कारों के मोल को उनके संस्थापक अंगों से अलग अलग कर जांच सकते हैं पर यदि कर्तव्याकर्तव्यविचार बिगड़ा न हो तो इस जांच की कोई आवश्यकता नहीं है ॥

" प्रशंसा की अभिलाषा "

इनमें से एक विख्यात मिश्र-चित्तसंस्कार है जो भिन्न भिन्न दशा में भिन्न भिन्न रूप धारण करता है; 'प्रशंसा की अभिलाषा' (या अनुराग) कभी ' निःसार अभिमान ' (vanity) और कभी ' कीर्ति या प्रताप की अभिलाषा या अनुराग)' होजाता है। पर इनमें एक विशेष लक्षण यह है कि प्रशंसा किसी दूसरे पर नहीं जाती है, पर मनुष्य इसका आनन्द स्वयं ही भोगना चाहता है; कर्ता और कर्म स्वयं ही होता है ॥

जब मनुष्य अपनी प्रशंसा अपनेही करने में यथेष्ट तृप्ति-लाभ

करता है तब इस वहिष्कृत आत्म-सम्मान और दूसरों के दया या प्रशंसा का प्रयोजन (या चाह) रखता है तब उसके इस वहिष्कृत (Isolated) आत्म-सम्मान को ' अभिमान ', गर्व, अहंकार, या घमंड कहते हैं ॥

जब वह अपने प्रलोभनों पर विश्वास कुछ काम करता है और अपनी शिष्टता में कोई कृत्रिम अंश समझता है; और जब उसका सांसर्गिक स्नेह भी इतना उग्र है कि वह दूसरों के भावों के अधीन रहता है, तो उसके इस पराधीन आत्म-सम्मान को ' निःसार अहंकार ' कहते हैं ।

जब उसकी अभिलाषा प्रशंसा जनित आनन्द भोगने की नहीं होती है पर प्रशंसा पाने की, उपार्जन करने की, होती है, यद्यपि वह प्रशंसा उसके कान तक भी न पहुंचे, केवल उसके बाद के लोगों को उसका नाम सुहावना (मधुर) बूझ पड़े। जब वह तुरत प्रशंसा पाने के लिये प्रस्तुत लोगों को संतुष्ट (प्रसन्न) करने का काम अपने अन्तःज्ञान के विरुद्ध करना स्वीकार न करे, तो उसको इस दूर दृष्ट आत्म-प्रशंसा को ' कीर्ति की अभिलाषा ' कहते हैं । यह इतिहासों में दीखता है कि कैसे बहुत लोगों का नाम उनके जीवन में बहुत विख्यात हुआ, नहीं सबके मुंह में रहता था, पर उनके पीछे उन्हें कोई स्मरण तक करता है, कोई यह भी नहीं जानता कि वे कौन थे । वह ऐसा अनस्थायी नाम नहीं चाहता; वह मनुष्यों की कृतज्ञता में चिरकालिक (स्थायी) स्थान को अभिलाषा करता है । उसके मरने के बहुत दिनों के बाद भी उसका यश फैले तो अच्छा है क्योंकि तब के लोग अधिक बुद्धिमान होंगे और इसके गुण को समझेंगे इसी में सच्ची मर्यादा है ।

इस प्रकार से ' प्रशंसा की अभिलाषा (अनुराग) ' बहुत रूप बदलता है । इसका कर्तव्याकर्तव्यविचार विषयक मोल भी बदलता रहता है जैसे सांसर्गिक स्नेह का अंश इसमें अधिक या

काम रहता है और जैसा लक्षण उनका हो कि जिनसे प्रशंसा पाने की अभिलाषा रहती है। जिसके साथ इसकी तुलना की जाती है उसके सम्बन्ध में इस का सापेक्ष मान (मोल) तुरत मालूम हो जाता है॥

शिक्षक के कार्य में इसका पूरा पूरा व्यवहार देखा जाता है, पारितोषिक, प्रशंसापत्र (या प्रमाणपत्र), विशेष लक्षण द्योतक पद (Degrees), विशेष आदर, इत्यादिक सामिग्री इसी नियम या मूल कारण से कृत्रिम गुण धारण करती हैं। परन्तु इस चित्त-संस्कार को रोकावट में रखना अच्छा है, इसके द्वारा मन की शक्तियां जागती हैं और विद्यार्थी परिश्रम करता है. पर यह सब कुछ 'आश्चर्य' और ज्ञान की खोज ही से होता है बिना उसके नहीं हो सकता। शिक्षक और शिष्य दोनों ही में इसका (अर्थात् ज्ञान की क्षुधा. लालसा का) रहना अत्यावश्यक है। अत-एव जहां 'प्रशंसा की अभिलाषा' और 'विश्राम की अभिलाषा' में विरोध होता है, वहां अहला लाभ के योग्य है; परन्तु जहां विरोध 'प्रशंसा की अभिलाषा' और 'ज्ञान (विद्या) की क्षुधा (अभिलाष)' में रहता है वहां पिछले को सर्वाधिक स्वत्व को न मानना पहलेको ढिठाई है, अर्थात् ऐसी अवस्था 'ज्ञान की क्षुधा' पहिले से उच्च है। शिक्षा की रीति में यह भी अवश्य निश्चय कर देना चाहिए कि कहां पर शुद्ध बुद्धि विषयक अनुसन्धान की इच्छा (curiosity) परम गुणकारी होगी और सन्मान पाने की इच्छा शून्य अंश को उतरेगी। पर दुर्भाग्यवश यह बात शिक्षाविभाग के आधुनिक निर्माणकों के ध्यान से छूट गई है। परीक्षाओं और पारितोषिकों की रीति पर इतना अपरिमित भरोसा रखने से विचार-शक्ति (thought) की वृद्धि और उज्वलता के लिये बुद्धि की स्वाभाविक लालसा का अन्द्रोह युक्त (अ-सभ्य, निठुर) अपमान होता है, और यह बुद्धि की अवज्ञाने वाले (रोकनेवाले और कर्तव्याकर्तव्यविचार में निकृष्ट वि-

चासंस्कारों को दुष्टता से (अपकार की इच्छा से) ढकेल कर आगे या ऊपर ले जाता है। विद्याभ्यास मानों सिपाहियों को क्रमशः युद्ध विद्या † सीखना हो जाता है; परीक्षकों के नाम जानने पर उन्हीं की रीति पर प्रश्न अनुमान कर कर के विद्यार्थियों को उनका उत्तर बतलाना ही स्कूल और कालेज के शिक्षक लोग 'सफल' ('successful') शिक्षा देना कहते हैं। यह रीति अवश्य ही विचार शक्ति (या सोचने की शक्ति) की नूतनता और मौलिकता को दबा देती है, नाश कर देता है (अर्थात इस रीति से विद्याभ्यास किए हुए विद्वानों को अपने जी से नई नई बात सोचने का अभ्यास नहीं रहता है, उनकी बुद्धि में ताजापन नहीं पाया जाता है; परीक्षा में दूसरों से बढ़जाने की अभिलाषा कि जिसको इस प्रथा में विद्योपार्जन की इच्छा का जगानेवाला माना है वह उत्तम मानसिक-शक्ति वालों के लिये अनावश्यक है; और दूसरों को तो जब वे वृत्ति-सम्बन्धी-पद (professional degree) पा लेते हैं उसी समय उनके विद्याभ्यास को यह (पूर्वोक्त रीति) समाप्त कर देती है, रोक देती है †॥

राजनीतिज्ञ पुरुषों में क्षणिक प्रशंसा की अभिलाषा से बढ़कर श्रेष्ठ कीर्ति (नाम) अभिलाषा है, पर अपने पर सच्चा विश्वास रखना और राज्य की सचाई से (या धर्म या भक्ति पूर्वक) सेवा करने की इच्छा इन दोनों से उत्तम है।

जीवन के मिश्रित सामान्य व्यापारों (या काम काज) में 'प्रशंसा की अभिलाषा' मनुष्यों को नाशक (बुरे) लालच में डालती है और उनको कर्तव्याकर्तव्य विचार के विषय में कायर बना देती है। अपने संगियों या बड़ों की प्रीति या अनुग्रहन

† शोक यही रीति हिन्दुस्तान में भी अंगरेजों के राज्य के शिक्षाविभाग में प्रचलित है, इस से भी अधिक कहिए, यहां के विद्यार्थी विद्याभ्यास समाप्त करने के साथ साथ शरीर का स्वास्थ्य भी समाप्त कर देते हैं।

गंवाना पड़े इसके लिये लोग कितनी बातें झूठ बोला करते हैं। संगतियों के उपहास (या बोल ठोल) और तिरस्कार से बचने के लिये कितना झूठ बहाना किया जाता और दोषयुक्त (या पाप) कर्मों में सम्मति दीजाती है। अस्थिर (चंचल) चित्तवाले साथियों की कृपा बनाए रखने के लिये उनके सेन से (इशारे से) अपने बारे में कुत्सित बातें भी बतलाते हुए देख कर कायर की नाईं चुपचाप लोग रहजाते हैं। इस प्रकार से इस चित्तसंस्कार के अधीन होकर लोग नीच और कुत्सित कर्म किया करते हैं, झूठ बोलते हैं, मिथ्या-प्रशंसा (खुशामद) करते हैं, और नोचता से समय के योग्य बातें बनाया करते हैं। यह चित्तसंस्कार (प्रशंसा की अभिलाषा) लड़कों के योग्य है, सयानों के नहीं। लड़कपन में जब सदसत् ज्ञान केवल मौलिक अवस्था (rudimentary) रहता है और सयानों की बहुत सी बातें मान ही लेना होती है, और उन सयानों के लिये भी जिनका सदसत् ज्ञान भी वैसेही अपक्व रहता है, दूसरों से प्रशंसा (सराहना) पाने की उत्कंठा स्वभाव को ऊंचा करती है नीचा नहीं। पर यह विद्यार्थियों सिपाहियों और नाविकों का पराक्रम (उत्साह) बढ़ाने, प्रकाशित करने, और साहस बनाए रखने के लिये प्रयोजनीय है; पर दूसरों में यह कर्तव्याकर्तव्य विचार विषयक नीचता दिखलाती है॥

"उदारता"।

मिश्रित चित्तसंस्कारों में "उदारता" की भी गिनती है, पर वस्तुतः यह मध्य सामाजिक स्नेह की उग्रता (अत्यन्तता, आतिशय्य,) है जो विशेष कार्यों में देख पड़ती है। दान और क्षमा में सामाजिक स्नेह की अधिकता को 'उदारता' कहते हैं; यह धन-प्रेम और क्रोध ईर्षा इसके दो प्रतिरोधकों को अलग कर देने में बड़ा पराक्रम रखती है। यह चित्तसंस्कार अपरिमित और स्वच्छन्द है। अतएव 'न्याय' इसका विरोधी है

क्योंकि यह (न्याय) कार्य के प्रत्येक अंगों में यथार्थता चाहता है न कम और न अधिक ठीक ठीक होना चाहिए। जो कोई किसी दूसरे से किसी काम के लिये ठीक ठीक नियम कर लिए हो,–जैसे कि मालिक ने नौकर से उसका महीना पक्का कर लिया है और उन नियमों को पूरा करने में जो कुछ दूसरे ने नियम से अधिक किया है उनको भी गिनती कर लेने पर बिना मांगे उसकी स्वत्व से नियम से अधिक देता है, तो उसको 'उदार' या दानशील कहते हैं। फिर भी, यदि कोई खेल में जिसका नियम पूरा पूरा निश्चय नहीं किया गया है, एक आदमी दूसरे पचवाले का स्वत्व न रहने पर भी अपना लाभ इस ध्यान से छोड़ दे कि आपस में क्रोध न उत्पन्न हो (रंजारंजी न हो) तो उसको भी 'उदार' कहेंगे॥

कभी कभी मातृपितृस्नेह (कुटुम्बस्नेह) और करुणा भी इस को रोकती हैं नहीं तो कहीं हाथ खुला रहने से बाल बच्चों और परिवार और दुखियों के लिये संचित धन को एक ही बार किसी को दे न दे या व्यय न कर बैठे। हां यह तो सच है कि अपरिमित 'धन-प्रेम' से अपरिमित 'उदारता' श्रेष्ठ है, परन्तु ऐसी 'उदारता' सदा नहीं प्रशंसनीय है; एक अनजान के काम के लिये अपना सब धन लुटा कर अपने परिवार को दरिद्र भिक्षुक बना देना एक अपराध है। अनियमित क्षमा भी सराहनीय नहीं और अपराधी और दर्शक दोनो के लिये उचित शिक्षा (उपदेश) इससे नष्ट होजाती है॥

अतएव कर्तव्याकर्तव्य विचार सम्बन्धी सारणी में "उदारता" का कोई अचल (अपरिवर्तनीय) स्थान नियत नहीं कर सकते। इसके प्रश्नों का उत्तर केवल हेतुओं ही के विचार से नहीं देना चाहिए पर इनके फल (नतीजा) को भी सोच लेना आवश्यक है॥

(११) 'गुणोत्कर्ष' के सम्बन्ध।

गुणोत्कर्ष के बोध से अनेक कर्तव्याकर्तव्य विचार सम्बन्धी कल्पना उत्पन्न होती हैं, पूर्व कथित चित्त संस्कारों से निकलती है, और नए कार्योत्पादकहेतु बनाती हैं गुणोत्कर्ष के बारे में जो कुछ पहले लिख आए हैं। उससे स्पष्ट है कि यह एक 'सापेक्ष' कल्पना है. यह दूसरे के सबन्ध में कही जाती है और जैसे जैसे वह दूसरा बदलता जाता है वैसे २ इसका भी रूपान्तर होता जाता है। एकही इच्छा एकही मनुष्य में दो भिन्न भिन्न समय में होने से या दो मनुष्यों में उपजने से, या दो मनुष्यों के बारे में होने से, गुणोत्कर्ष (या योग्यता) में भिन्न भिन्न रूप धारण करती है। एक समय में इसके पूरा करने में बहुत (गाढ़) आलस, लुभाव, को रोकना पड़े, दूसरे में कर्ता की प्रवृत्ति के मेलही का हो, और पुरा करने में कुछ कठिनता न पड़े। या एक में अनुकूल दशा और दूसरे में प्रतिकूल दशा हो सकती है, तो अनुकूल वाले को जो प्रशंसा करेंगे वह प्रतिकूल वाले में बहुत प्रबल हो जायगी। ऋण चुकाने में जो कुछ कठिनता सहनी पड़ी उसकी कृतज्ञता महाजन न माने, पर जो कठिनता किसी अनजान बंधुवा को बन्धन से छोड़ाने में होगी वह उसके आंख में छोड़ाने वाले का भारी गुणोत्कर्ष प्रकाश करेगी और उसी रीति से मनुष्यों की साधुशीलता (परोपकार) यद्यपि ईश्वर के सामने कर्ता के गुणोत्कर्ष न बतला सकती है, पर मनुष्यों में तो अवश्यही उसको गुणोत्कर्ष देगी। उस अनन्त साधुत्व युक्त ईश्वर के सामने हम लोग केवल यही कह सकते हैं कि "हमलोग अलाभकारी सेवक हैं। हमलोगों का जो अवश्य कर्तव्यकर्म था (केवल) वही हम लोगो ने किया"।

अब इस अन्तिम वाक्य से एक विशेष बात और भी प्रगट होती है यह देखलाता है कि कर्तव्य कर्म करने में कोई गुणो-

त्कर्ष तभी मिलना चाहिये जब निर्बन्ध और खराई (सत्यशीलता) से अधिक कर दिखलावे। ऐसी बात उस अवस्था में संभव है कि जब हमलोग आपस में किसी विषय के लिये कोई परिमित नियम बांध देते हैं या जब उस विषय में कोई निश्चित चाल चली आती है। परन्तु जब कर्तव्य कर्म के घेरे से 'गुणोत्कर्ष' (merit) को निकाल दें, तो हमसे हम पूर्वलिखित लक्षण को बदल देना होगा कि जिसकी सराहना करते हैं उसमें गुणोत्कर्ष और जिसकी निन्दा उसमें गुणाभाव हमलोग आरोपण करते हैं क्योंकि प्रत्येक उचित इच्छा को हमलोग सराहते हैं। एक स्थान में गुणोत्कर्ष और सराहना को एकही स्थान देते हैं, पर दूसरे समय सराहना को तो वही स्थान और गुणोत्कर्ष को केवल उसमें से थोड़ा स्थान देते हैं; अर्थात् कर्तव्य से जो अधिक बढ़ेगा उसीमें गुणोत्कर्ष को रखते हैं। अतएव इन विरोधी व्याख्यानों को मिला देने के लिये ठीक शब्द 'योग्यता' (desert) है। मनुष्य सराहना के योग्य भी हो सकता है और निन्दा के योग्य भी। अतएव बंधे हुए (निश्चित) कर्तव्य कर्मों में 'योग्यता' प्रयोग करनी चाहिये और उससे अधिक होने से 'गुणोत्कर्ष'।

यदि ख के साथ प्रतिज्ञा पूरी करने में क को कोई भयानक क्षति सहनी पड़ी हो जो उसके सत्यशीलता (integrity) के इष्टफल (लाभ) से कहीं बढ़कर हो, तो हमलोगों को अवश्यही मालूम होगा कि प्रलोभनों को रोकने से उसकी सत्यशीलता में कुछ वीरत्व लक्षण आगया है और गुणोत्कर्ष के मंडल में वह पहुंच गया है। परन्तु यह बात उसके मन में गुप्त रहने और ख के न जानने के कारण, ख के प्रति यह गुणोत्कर्ष उसमें नहीं है। ख से गुणोत्कर्ष पाने के लिये क को कोई ऐसा काम करना चाहिए जो सट्टे (ठीका प्रतिज्ञापत्र) में नहीं है और ख के हित (या उपकार) का है जैसे, ख का एक १००) क के यहां पावना है और सट्टे के अनुसार उसको पूस में मिलना

चाहिए. पर ख को किसी विपत्ति में देखकर यदि क (महीना पहिले उसको रुपया दे दे, या इसीका कुछ रुपया ख से पावना हो और पावने के समय में वह कोई विपत्ति में पड़ा हो, और इससे यह उसी समय रुपया न लेकर कुछ समय ख को अपने विपत्ति से छूटने का दे; तो वह व्यवहार की श्रेणी से कहीं ऊपर चढ़ गया और तब ख को आत्म में यह गुणोत्कर्ष की योग्यता को पहुंच गया और ख उसमें गुणोत्कर्ष को स्वीकार, करता है।

" कृतज्ञता "

जिस भाव (ज्ञान, बोध) से इस प्रकार वाले अन्तिम दृष्टान्त में क के गुणोत्कर्ष को ख अंगीकार करता है और ,साधारण शर्त (प्रतिज्ञा) से बढ़कर कार्य होते अनुभव करता है, उसको " कृतज्ञता " कहते हैं। यह एक नया, प्रसिद्ध, पर लगभग सरल चित्तसंस्कार है। यह एक प्रकार का समष्टिक या दैहिक (personal) प्रेम है जो लाभ (अनुग्रह) पाने से निश्चय करके (specifically) उपजता है और इससे पलटा देने की अभिलाषा से प्रयुक्त पाता है (अर्थात दूसरे से अनुग्रह या लाभ पाने से कृतज्ञता उपजती है और इस में उसके अनुग्रह का पलटा देने की लालसा रहती है)। सब प्रकार के प्रेम की यह प्रकृति है कि जिस अनुभव की भावना से यह उपजता है उसको यह भी पैदा करना चाहता, अर्थात् दूसरा जैसा प्रेम हम पर करे हम भी उस पर उसी प्रकार करे। गुणप्रशंसा (admiration) का उत्तर गुण प्रशंसा से, दया का बदला दया (sympathy) से, उत्तम दृष्टान्त (निदर्शन) का उत्तर उतने ही उत्तम दृष्टान्त से, और वैसेही अनुग्रह का बदला समान अनुग्रह से दें। अतएव कृतज्ञता में भी कोई असाधारण बात नहीं है। यह ' उदारता ' का एक रूपान्तर (या भेद) है, पर उसका अनियत आधिक्य (बहु व्यय) इस में पाए हुए लाभ (अनुग्रह)

के विस्तार के अनुसार लगभग परिमिति (सीमा) को पहुंचता है, (अर्थात् जिस मात्रा का लाभ पाया है उसोके लगभग देना भी चाहिए), यद्यपि इसकी सूक्ष्म गणना नहीं होती है। परन्तु यह प्रेम, अनुग्रह, जो एक आदमी किसी प्रकार से दिखलाता उसको पाने वाला अपने ऊपर ऋण समझता है पर करने वाला अपना स्वत्व नहीं समझता है।

यह प्रेम का सम्बन्ध ' कृतज्ञता ' का मूल तत्व है; अतएव जो मनुष्य इस ऐसे उदार सम्बन्ध को नहीं रख सकता है और जब तक इस ऋण को चटपट चुका कर छुटकारा नहीं पाता तब तक व्याकुल (असुखी) रहता है, उसमें यह दोषयुक्त रहती है। हां यदि अनुग्रह करने वाला कोई अयोग्य मनुष्य हो या कोई ऐसा अनजान आदमी हो जिससे वह मित्रता (या दृढ़ संसर्ग) नहीं रख सकता है और तब वह इस अनुगृहीत दशा से छुटकारा पाने के लिये हड़बड़ी में हो, तो उसके इस कर्म की हमलोग निन्दा न करेंगे। पर दूसरी अवस्थाओं में यह छुटकारा पाने की इच्छा उसके चित्त का अत्यन्त अहंकार दिखलाती है कि जिससे वह मित्रता नहीं कर सकता और उदार सम्बन्धों के योग्य नहीं है; क्योंकि कितना ही दानशील कोई दाता क्यों न हो पर वह उदार नहीं कहा जा सकता यदि वह व्यवहार में सदा अपने को ऊंचा बनाए रखना चाहता है और दूसरे को नीचा बनाकर उसको नीचा देखता है। परस्पर स्नेह का यह सार विषय है कि स्थान के हेरफेर को सदा स्वागत करना चाहिए स्नेह करने और पाने, अधीनता को नम्रशीलता और उपकार (या सहायता) का आनन्द, दोनों ही में समान मोहन शक्ति (मनोहरता charm) रहे। अतएव चिड़चिड़े पन वाले (भगरा, टेढ़ा या मत्सरी sullen) (ग्रहीता) को वैसाही स्नेह रहित जानना चाहिए कि जैसा डाही दाता (अर्थात् जो

अप्रसन्नता पूर्वक, कुढ़ते या भुनभुनाते देता है) होता है।

जब दो आदमियों में जो प्रतिज्ञा हो गई है उसके किसी नियम को एक ने न पूरा किया और दूसरे के सामने वह अपने को गुणाभाव के योग्य समझाता है तब उसके जी में एक प्रकार का चित्तसंस्कार उपजता है, जो कृतज्ञता का उलटा (विपरीत) पक्ष है और जिसको "हानिपूर्णता (प्रतिसमाधान, सुधराव) की इच्छा" कहते हैं। जो दूसरे को हानि पहुंची है, विशेष करके जो स्नेह में आघात पहुंचा है, उसको यह पूरा करना चाहता है। जब यह घाव न चोखाय, हानि पूर्ण न हो तब उसको केवल बाहरी ही लक्षणों से निन्दित न होना पड़ता है परन्तु उसके जी में भी आता है कि उसने अपनी और समाज की शान्ति को बिगाड़ा है; और इस पाप के प्रायश्चित के लिये पहला काम यही करना चाहिए कि अपने ऊपर जो कुछ क्षति उठाकर हो जैसे हो, इनको पूर्ववत फिर कर देना। बहुत देर तक इस बुराई को न रहने देना; अपना अपराध को एकाएक स्वीकार कर लेना चाहिए; क्षमा में एक भी बहाना न दिखलाना, पर अपना कलंक सब अपने ऊपर ले लेना चाहिए, और उसकी हानि को पूरा कर देने में परिश्रम, धन, कुछ भी बाकी न लगाना चाहिए जैसे हो तैसे पूरा कर देना, कि जिसमें फिर भी विश्वास और स्नेह ज्यों का त्यों बन जाय। परन्तु जब तक परस्पर विश्वास की हानि (उठजाना) अपने को असह्य (असहनीय) न बूझ पड़े और जैसे हो तैसे उसको पूरा करने में शीघ्रता आप न करे, तब तक विश्वासादि पूर्ववत होने की (लौटने की) कोई आशा करनी आरम्भ भी नहीं कर सकते हैं।

ऊपर के व्याख्यान से यह सहज में देख पड़ेगा कि कृतघ्नता उन्हीं कर्तव्याकर्तव्य सम्बन्धी मान और नियमों से बद्ध है कि जिनसे "उदारता" है। सचमुच "कृतघ्नता" उसी का भिन्न-

रूप दृष्टान्त है पर यह किसी एक व्यक्ति के प्रति होती है और एक विशेष प्रकार के कार्य में उपजती है ॥

" न्याय "

गुण के ध्यान (अनुभव) से एक और भी ध्यान (बोध) उत्पन्न होता है। प्रत्येक मनुष्य को उसके (स्वत्व) देने की अचल, दृढ़, और सार्वकालिक इच्छा को ' न्याय ' कहते हैं। इस शब्द के अनेक प्रयोग प्रचलित हैं, उन सभों को एक परिभाषा के अन्तर्गत लाना असम्भव है; अतएव यहां पर एक मध्य पक्ष लिया जायगा कि जिसमें प्रायः सब का वर्णन हो सके।

" न्याय " मनुष्यों का उनकी योग्यता के अनुसार वर्ताव करता है। इस में दो विषय घुसे हैं - (१) उनके साथ वर्ताव करने वाला कोई है; और (२) उनके वर्ताव में उसके हाथ में किसी ऐसी वस्तु को बांटने का अधिकार है कि जिसका वे लोग सोच (परवाह) करते हैं, और जिसको वह उनकी योग्यता के अनुसार सम और सापेक्ष भागों में बांटता है। इन दशाओं को सुनने से एकाएक सामने एक न्यायकर्त्ता (Judge) का चित्र देख पड़ता है कि वह दो वादी प्रतिवादियों के स्वत्व को विचार रहा है, और उन दोनों के अपराध और स्वत्व के अनुसार उनको छोड़ता या बांधता है, अतएव यह स्पष्ट है कि न्याय करने के लिये कम से कम तीन मनुष्यों का होना आवश्यक है—दो मनुष्य जिनका अंग किसी सामान्य अच्छी या बुरी बात में सन्देह में है और तीसरा वह जो इस सन्देह को मिटाता है; अब इसी विचारकर्त्ता के निर्णय में न्याय और अन्याय का प्रयोग हमलोग करते हैं, और न कि उन दो वादियों के बारे में। ' न्याय ' का यही व्याख्यान, मूल जड़ सूझ पड़ता है, वही मनुष्य 'न्यायी' कहा जाता है जो सापेक्ष ययोग्यता के झगड़े में किसी बांटने के योग्य वस्तु को उनकी योग्यता के अनुसार यथोचित अंशों में बांटता है।

परन्तु यह विवरण हमलोगों के साधारण बोलचाल में सदा नहीं देख पड़ता है। हम लोग बोलचाल में कहा करते हैं कि 'मालिक ने अपने नौकर के नियमानुसार वेतन को 'अन्याय से रोक रक्खा'; 'पिता अपने लड़के को आलस (आसकत) या दुष्टता के लिये न्याय से दण्ड दे सकता है'; 'कोई व्यग्र, चिन्तायुक्त, मनुष्य अपने मित्र के अभिप्राय पर अन्याय से संदेह (शंका) कर सकता है'। इन वाक्यों से बूझ पड़ेगा कि 'न्याय' और 'उचित' एकही बात है और पिछले के ऐसा पहिले में भी दोही मनुष्यों का प्रयोजन है, तीसरे का नहीं। पर ऐसा नहीं है। इन प्रत्येक दृष्टान्तों में तीसरा मनुष्य उपलक्षित है। प्रत्येक वाक्य में जिस मनुष्य के बारे में न्याय या अन्याय शब्द का प्रयोग किया है वही तो न्यायकर्ता का स्थान ग्रहण करता है पर अब उसके निर्णय के लिये प्रार्थना करने वाले दो प्रार्थक कहां से आवेंगे, यही निकालना कठिन है क्योंकि उन में बाकी तो अब एकही बचा है। पहिले दृष्टान्त में काम लेने वाला (मालिक) विचारकर्ता है, और वह स्वयं और नौकर येही दोनों में वेतन का नियम ठीक हुआ है, अतएव येही दोनों वादी प्रतिवादी हैं, और वह न्यायकर्ता बनकर नौकर के विरुद्ध विचार करता है। दूसरे उदाहरण में दण्ड को तब न्यायानुसार कहेंगे कि जब यह अपराध के समान हो और यह पक्षपात रहित दिया जाय अर्थात् और लड़कों की अपेक्षा उस पर अनुग्रह या अप्रसन्नता न दिखलाई जाय, अतएव इस प्रश्न में तीसरा मनुष्य दूसरी अवस्थाओं में वही लड़का हो सकता है, या उस घर के और लड़के उसके भाई बहिन आदि। अब तीसरा दृष्टान्त जांचिए, जिस मित्र पर शंका की गई है उसको उन्हीं ने (विचार कर्ता ने) उसके विरुद्ध के प्रमाण न रहने पर भी वैसा समझा है जैसा कि कोई अपराधी जिसका अपराध स्पष्ट रूप से सिद्ध हो गया है; अतएव यहां पर विचार

कर्ता, निर्दोषी और दोषी में कोई भेद नहीं जानता है और इससे अन्यायी कहा गया है। जब न्यायालयों में एकही अपराधी का विचार किया जाता है तब भी विचारकर्ता के मन में दण्ड देने के समय दूसरे दूसरे अपराधियों को जो दण्ड पहिले दिया जा चुका है उसका ध्यान बंधा रहता है । अतएव यो ग्यतानुसार बांटने ही को न्याय कहते हैं, यह सही है। देखिए जिन दशाओं में यह बात नहीं रहती है उनमें 'न्याय' और 'अन्याय' विशेषणों का प्रयोग नहीं करते हैं । केवल दो मनुष्यों के आपस के व्यवहार में इनका प्रयोग नहीं करते । यदि कोई दाई प्रतिज्ञा के अनुसार ठीक ठीक समय पर घर न साफ किया करे तो उसकी स्वामिनी उसको 'अन्यायी' कभी न कहेगी। और यदि नौकर को ठीक ठीक समय पर वेतन मिला करे तो वह अपने स्वामी की प्रशंसा 'न्यायी' कहकर न करेगा। ठीके के अनुसार चलना और प्रतिज्ञा पूरी करनी न्याय के उदाहरण नहीं हैं। पण (नियम) पूरा करना 'विश्वस्तता' है, पर अवश्य करके वह 'न्याय' भी हो सो नहीं; पूरा न करना दोष' है पर अवश्य करके 'अन्याय' है, सो नहीं।

' राजन्यायालयों के विचारकर्ता अपराधियों को उनके अपराध के अनुसार अर्थ दण्ड, कारागारवास आदिक दण्ड देते हैं, पर यह विधि कृत्रिम है, सदसदाचार विषयक नहीं। साधारण मनुष्य इसके बदले योग्यतानुसार स्नेह, सराहना, घृणा, प्रेम क्रोध, सम्मान, आदिक का प्रयोग करते हैं। साधारण मनुष्यों के इस स्वभाव और आचरण के विचार को चित्त की सचाई, निर्मलता, वा खरापन, कहते हैं । यह न्याय की एक नई समझ (idea) है; यह उन विषयों का विचार करता है जिनके ऊपर नीति (law, आईन) कुछ ध्यान नहीं देती है।

इस रूप में न्याय एक नया कार्योत्पादक हेतु हो जाता है । निराले और सरल रूप में न्याय कर्तव्याकर्तव्य विचार विषयक

गुण का एक व्यवहार या अभ्यास है, परन्तु इसको तत्परता जब एक स्वभाव (प्रकृति) हो जाती है तब यह एक चित्तसंस्कार हो जाता है तब यह 'न्यायानुराग' क्या है ? यह मनुष्यों और उनके स्वभाव की योग्यतानुसार सापेक्ष भाग में वर्ताव करने की अभिलाषा (अनुराग) है, अर्थात् अधिक योग्य पुरुषों को अधिक अनुकूल (favourable) सत्कार करना और कम को कम। न्यायानुराग केवल उचित (कर्तव्य) के ज्ञान का उत्कृष्ट रूप है; कर्तव्याकर्तव्य विचार सम्बन्धी उत्कर्ष को ऊंचा पद देना (बढ़कर समझना) न्यायानुराग है; या स्वभाव के विचार करने में अन्तःकरण (सदसतज्ञान) का परमोत्साह (अत्यासक्ति) इसको कह सकते हैं ॥

"सत्यशीलता"

सत्यशीलता, सचाई, या सच बोलना, स्वयं कार्योत्पादक हेतु नहीं है; पूर्वोक्त चार प्रकार के चित्तसंस्कारों में से यह किसी में नहीं है; प्रकृति के बदले यह बोलचाल (वचन, बोली, speech) का अड़ाव प्रतिरोध है, जो हमलोगों को बहुत सी बातें बोलने से रोकता हैं. यह आरम्भक नहीं पर अनुशासक है, कुछ कहने की इच्छा दूसरी ही जगह खोजनी चाहिए। हमलोग बात बोलते हैं, सच्चा होने के लिये नहीं, पर अपना अनुभव कहने और दूसरों का सुनने के लिये, या दया या घृणा उपजाने के लिये, या अपने संगी की इच्छा पर कुछ प्रभाव दिखलाने के लिये। अपनी इच्छा पाने के लिये चित्तसंस्कारों की बोली केवल एक साधनयन्त्र (हथियार जरिया) है। वचन दूसरों के चित्त पर एक प्रकार का विश्वास पैदा करता है, या किसी भावना को जगाता है; पर जो विश्वास दूसरे पर पैदा करना चाहते हैं वह हमलोगों का अपना विश्वास है और जो भावना जगाना चाहते हैं वह अपनाही अनुभाव है, अतएव बोलने के मुख्य उद्देश्य ही में सचाई अत्यावश्यक है; वचन

चित्त की सत्य अवस्था को प्रकाश करने के लिये बनाया गया है, यह न करना 'वचन' इस शब्द का अर्थ उलट देना है। अतएव सचाई दृढ़रूप से (या यथार्थतः) प्राकृतिक (या स्वाभाविक) है; वचन के द्वारा अपने चित्त के भावों को प्रकाश करने की रीति ही से यह स्पष्ट है।

पर दूसरे दूसरे चित्तसंस्कार मनुष्यों को दूसरों से अपना विश्वास और भाव (feeling) छिपाने के लिये उत्तेजित करते है। अपने अपराध को जान लेने पर लज्जा हमलोगों को अपना पाप छिपा रखने को कहती है। अपने मित्र के नीच कर्म को देखकर हमलोग स्वयं खेद करते हैं, पर दया कहती है कि उसके दोष को छिपा लो। एक विरोधी हम से किसी विषय में बढ़ जाना चाहता है तो हमलोग उससे कोई आवश्यक समाचार (विषय) छिपा रखना चाहते हैं। व्यापार में एकाएक धन उपार्जन करना चाहते हैं, तो अवसर मिल जाने से कोई झूठा समाचार उड़ाकर भी धनोपार्जन करने को प्रस्तुत होजाते हैं। जब ऐसे लोभ चित्त पर बैठ जाते हैं तो वचन का ,लोग अनुचित रीति से प्रयोग करते हैं इसके यथार्थ आशय से उलटे ही कार्य इससे लेते हैं। कदाचित् इसी विशेष विश्वासघातकता के कारण असत्य को लोग अत्यन्त नीच कुत्सित, समझते हैं; और इसी कारण से अमायोग्य विषयों में इसको लोग घृणा युक्त देखते हैं। इसी ध्यान से एक तत्त्वज्ञानी ने कहा है कि 'झूठ बोलना मानों मनुष्य की मर्यादा को त्याग देना या सत्यानाश कर देना है'।

झूठ बोलने से समाज में विश्वासनष्ट होजाता है; समाज परस्पर के विश्वास ही पर स्थित है, सो इससे टूट जाता है। संसर्गिक स्नेह सत्यता (सचाई) चाहता है, क्योंकि विश्वासघातकता (treachery) से हानि के लिये क्रोध उपजता है और स्नेह में आघात पहुंचता है। दूसरों पर भी छल करते हुए

देखकर इम लोगों के चित्त में वही भाव उपजता है जो अपने पर होने से होता है। कभी कभी मनुष्यों के परस्पर का यह विरोध भाव कई पीढ़ी तक बढ़ता ही चला जाता है।

जो मनुष्य झूठ बोलता है वह दो वस्तुओं को मिथ्या प्रकाशित करता है—मुख्य करके तो (अ) अपने विश्वास (प्रतीति) और भावों को, पर इसके अतिरिक्त (इ) उन विश्वासों और भावों को भी जो यथार्थता से प्रमाणित हैं, जो पदार्थों की प्रकृति और संसार के क्रम (परम्परा) से सम्बन्ध (या सम्बन्ध) रखते हैं। झूठ बोलने वाला पहिले के बारे में कह सकता है कि अपना विश्वास और भाव हमारे निज के विषय हैं, दूसरों को हम से प्रकाशित करें या न करें तो उनका क्या. अपनी वस्तु दूसरों को न देंगे, यह हमरा धन है उनका धरोहर नहीं है। पर पिछले के बारे में वह क्या कह सकता है; मति (thought) और वचन में सम्बन्ध है केवल यहीं पर मति और पदार्थ में भी सम्बन्ध है। इस पिछले सम्बन्ध को बिगाड़ने का उसको क्या अधिकार है? पदार्थों के यथार्थ क्रम को उसने झूठ बोल कर बिगाड़ डाला है जिसको ईश्वर ने सदा बना रक्खा था। वह चाहता है कि हम लोग उन पदार्थों को जैसे वे हैं वैसा न समझ कर जैसा उसको सोहता है वैसा समझें। वह सत्य के फल को नहीं ग्रहण करना चाहता है, संसार के सिद्ध क्रम से विरोध करता है जब कभी वे उसके मनोरथ के विरुद्ध होते हैं। अतएव झूठ बोलना केवल मानवी अपराध नहीं है पर अधर्म भी है. ईश्वर के विरुद्ध निर्भयता से कुत्सित बर्ताव (आचरण) करना है। झूठ बोलने वाले को प्रत्येक झूठ के बारे में कहा जा सकता है कि 'तुमने मनुष्यों ही के प्रति झूठ नहीं कहा, पर ईश्वर के प्रति भी'। इसी पश्चात्ताप से एक प्रकार की धर्म विषयक घृणा (shrinking) भी अभिमत असत्य की लज्जा और अनिच्छा के साथ मिल जाती है। अतएव

सत्यशीलता (सचाई) केवल संसर्गिक स्नेह का ही नहीं पर 'सम्मान' के भी अधिकार (प्रभाव) का प्रयोग करती है। जो मनुष्य किसी विशेष (या स्पष्ट) धर्म का अनुगामी नहीं है, उसमें भी जो सत्यशीलता है वह अज्ञात धर्म के समान है अर्थात् उस 'पूर्णता' का सत्कार करना है जो इस सृष्टि का यथोचित अवलम्ब (या अधिकार) रखता है और जो सब आभासों (छाया, रूप, appearance) का अन्तरिक वास्तव्य (reality) है। यदि सत्यशीलता केवल संसर्गिक स्नेह या लोगों के विचार के दाब के कारण प्रशंसनीय कही जाती तो मानुषी सम्बन्धों की सीमा के भीतर ही रहती और इसके बाहर दृष्टि न करती; पर सबही कालों में और जातियों में इसने मन्दिरों (देवालयों) की शरण ली है और हाट के व्यवहारों (या प्रतिज्ञाओं) को तीर्थस्थानों (देवालयों) में की ईश्वर प्रार्थना से प्रमाणित किया है और संकल्प और शपथों के रूप में यह इस अन्तर्बोध को खोल देता है कि मनुष्यों से भिन्न प्रकार की आंखें शब्द की सरलता और सत्य की शुद्धि, विमलता, को सावधानी से देखती थीं।

अब यहां पर एक शंका हो सकती है कि यदि सचाई को सर्वोत्तम हेतु की रक्षा में रक्खा है तो यह सबही दशाओं में निर्बंधयुक्त होगी (अर्थात् सदा सचही बोलना पड़ेगा) क्योंकि निकृष्ट हेतु को इसके निकाल देने का अधिकार नहीं देना चाहिए, और इससे उत्कृष्ट और कोई हुई नहीं। तब क्या उन विषयों में भी असत्य बोलने (या धोखा देने) से हम लोग गए जिन में झूठ बोलना नीतिशिक्षकों ने भी निःकलंक माना है, जहां इसके अतिरिक्त और कोई उपाय जान या जीवन विषय अपना या अपने मित्रों को बचाने का नहीं है ? क्या शत्रु, घातुक, या उन्मत्त (पागल) को सच्ची बात बतला देना चाहिये कि हमारे सत्यशीलता के द्वारा वे अपने बलि पर

अपनी इच्छा पूरी करें ? क्या चिकित्सक अपने रोगी को यह सच्ची बात बतला देने से कि वह एक वर्ष के भीतर मर मर जायगा उसके आजही मारने का विचार नहीं करलेगा ? इन प्रश्नों का उत्तर देने के लिये उचित है कि पूर्वोक्त दो सत्यशीलता के अधिकार के मूल (जड़) कारणों से पूछें कि किन बातों पर विश्वास करने को कहता है । वे दोनों मूल कारण सापेक्ष सचाई और वास्तवत्व हैं।

पहिला, जिसको साधारण (सामान्य) समझ भी कहते हैं, समाज के सब लोगों के लिये है, और भाषा इसका साधनयत्न है। पर एक भाषा बोलने और समझनेवाले सभी इस समाज में परिगणित नहीं हो सकते । जो लोग इस 'सामान्य समझ' के आशय को त्याग कर उसके विरुद्ध कार्य करते हैं वे उसकी रक्षा के बाहर समझे जाते हैं । समाज से बाहर निकाल दिए जाने पर वह इसके निर्बन्ध को शरण का अधिकारी नहीं हो सकता। प्रत्येक समाज के मंडल में ऐसे ऐसे लोग देख पड़ते हैं कि जो उस मंडल में तो रहते हैं पर उस के नहीं कहे जा सकते जो समाज की सेवा करने के लिये नहीं वहां रहते पर उसपर आक्रमण करने के लिये । गुप्तघातक, डाकू, हाथ में शस्त्र लिये शत्रु, और उन्मत्त समाज के बाहर हैं; और उसी प्रकार से वे लोग भी बाहर गिने जाते हैं जो वचन के आशय को व्यर्थ करते हैं और इसके विश्वास के द्वारा इससे विश्वासघातो का काम लेते हैं । सत्य वचन सुनने का इनको वैसाही अधिकार है जैसा कि शत्रु के ओर का कोई भेदिया आकर अपने दल में मिल जाय और पहचान लिया जाय तो उसको अपने संगियों में गिनने का । यह रक्षा के योग्य नहीं है, छुटकारा नहीं पा सकता, उसको फांसी पड़ना ही होगा । तब यदि उन मनुष्यों को सच्ची बात न बतलावें कि जिनको सच बतलाने के लिये इस नियम से वह नहीं हैं तो इससे सचाई के अन्तर्ज्ञान का

नियम टूट नहीं जा सकता है। ये मनुष्य इस नियम के भीतर कभी आए ही नहीं, क्योंकि उस मंडली में ये रहते हों पर उस समाज का उचित काम नहीं करते हैं।

अब सचाई के अधिकार (प्रभाव) उत्पन्न करने वाले दूसरे मूल कारण 'सम्मान' का विचार कीजिए। पदार्थों के यथार्थ रूप का 'सम्मान' और उनको अयथार्थ रूप में देखलाने के लिये स्वतन्त्रता, ये दोनों पहिले सदा ही असंगत (विरोधी) देख पड़ते हैं। पूर्वोक्त सम्मान हम लोगों को प्रकृति और इसके यथार्थ विषयों के सामने खड़ा कर देता है, मानों बीच में कुछ दूसरा पदार्थ हई नहीं कि जिसके सहारे उनके रूप को कुछ औरही देखला दें। परन्तु यह बात नहीं है; ईश्वर क्रत वास्तविक रूप का सम्मान और उससे अभ्यन्तरिक अविरोध तभी पूरा हो जाता है कि जब हमलोगों का विचार (समझ. बोध) पदार्थों की स्थिति (वास्तविक रूप) से मिल जाय। वचन तो किसी दूसरे से भी सम्बन्ध रखता है; वह दूसरा चाहता है कि जो कुछ उन वस्तुओं के बारे में हम जानते हैं सो उसे कह दें। इससे एक नया ही सम्बन्ध ऊपर हुआ; यह सम्बन्ध प्रकृति को जानने के अभिलाषी हमलोगों और प्रकृति में नहीं है; पर हम लोग और हम लोगों की समझ को जानने का अभिलाषी उस में है। अतएव इस नए सम्बन्ध में कैसे वर्ताव करना चाहिए इस प्रश्न के साथ यह नियम कभी घुटा नहीं रह सकता है कि हम लोगों के बोध (समझ, मति) को जानने के अभिलाषी पुरुष का स्वभाव और उसके पूछने का अधिकार (स्वत्व) जान लेना अवश्य चाहिए। यदि वह हमारे समाज का वास्तविक (यथार्थ) अंग या आदमी है कि जिसको हम लोग 'साधारण समझ' में संग ले सकते हैं, तो अपनी सच्ची समझ उसको बतला देने के लिये अवश्यही हम बद्ध हैं, और उसको और प्रकृति को शुद्ध (उचित) सम्बन्ध

में रख देना हमारा काम है। पर यदि हम पहचान लें कि यद्यपि ऊपर से वह हमारा भाई बन कर आया है और वास्तव में वह कोई छली है जो हम से सच्ची बात जान कर उसको किसी बुरे काम में लगाना चाहता है और जहां तक हम सच्ची बात उसको बतलाते जायगे वहां तक वह बुराई करता जायगा, तो ऐसी अवस्था में विषयों का सच्चा सम्बन्ध और क्रम न बतलाने वरञ्च कुछ और ही बतला देने से हम विषयों के वास्तविक क्रम से द्रोही नहीं हो सकते, हम उस क्रम के आन्तरिक स्वभाव (spirit) को बनाए रखते हैं नहीं तो यह उसके अपराध का सहायक हो जाता है; हम इससे विश्वासघाती कहाते यदि इसके हाथ को भरे बन्दूक को किसी दुरात्मा के हाथ में थंभा देते। यदि वह स्वयं अन्धा न होता तो हमारे सच्ची बात के उस को न बतला देने से वह हमको धन्यवाद देता, क्योंकि हमारे झूठी बात के बतला देने से वह बहुत भारी बुराई करने से बचता है। अतएव यह सिद्ध हुआ कि 'समाज' भी सच्ची बातों को ऐसे ऐसे मनुष्यों से छिपाने की आज्ञा देता है। सत्य के लिये जो धर्मसम्बन्धी आदर है वह भी इससे कम नहीं होता है क्योंकि इस रीति से हम लोग उसकी पवित्रता के हेतु (या तत्व ground) और तात्पर्य्य को ध्यान से भुला नहीं देते हैं। बौड़हा भी मनुष्य ही है, वह भी पूछ सकता और उत्तर दे सकता है पर उसको यथार्थ विषय बतला देने के लिये कोई अपने को बद्ध नहीं समझता है क्योंकि चित्त की विक्षिप्त दशा के कारण वह अब 'समाज' का अंग नहीं कहा जा सकता, और 'साधारण समझ (बोध)' का यह अब अधिकारी नहीं है।

इस विषय में सब कुछ कह जाने पर भी चित्त में एक प्रकार की अस्थिरता बनी ही रहती है। साधारण ज्ञान वाले कहते हैं कि कल्पनानुसार (in theory) सचाई कभी वर्जनीय

नहीं है; पर व्यवहार में आवश्यकता पड़ने पर इसको वे छोड़ भी देते हैं। मेरे देखने में तो यह आता है कि सचाई के नियम में कोई दोष (व्याघात, प्रतिबन्ध) नहीं है, और न उस आदमी को मैं दोषी कह सकता हूं जो उसके अनुसार चलता है; पर जब मैं अपने को उसी अवस्था में रखता हूं कि जिसमें जानबूझ कर झूठ बोलना पड़ता है, तो एक प्रकार की अनिर्वचनीय (अकथनीय) अनिच्छा (घृणा repugnance) मुझ पर फिर हो आती है और उस (पूर्वोक्त कल्पना) को लज्जा कारक देखलाती है। बूझ पड़ता है कि यह भाव साधारण (common) अनुकम्पा (humanity) के अनुरखातनीय ध्यान से उपजता है जो समाज के द्रोहियों से भी सामाजिक सम्बन्ध रखता है, और अविनाशी स्वात्मिक मेल (एकता) के सामने प्रत्येक मनुष्य को अपने संग से किसी को बाहर निकालने को मना करता है। क्या ईश्वर के राज्य में देश निकाले का नियम नहीं है? जिसको मैंने धोखा दिया है उससे मैं फिर उस समय कैसे मुंह दिखलाऊंगा कि जब कदाचित हम दोनों का सम्बन्ध उलट जाय और वह हमारे अपराधों (पापों) को, निज रक्षा के हेतु अस्वीकार न करके, मन हरने वाले प्रेम से हमें देखे? और जब ऐसी ऐसी समझ (ख्याल) के साथ वह वास्तवत्व (reality) को सम्मान भी आकर मिल जाता है जो मनुष्य की विचारशक्ति के सारतत्व में लगा रहता है और जो इस बात को अविश्वास योग्य बतलाता है, कि असत्य भलाई का साधन हो सकता है, तब कदाचित्, यह बुद्धिग्राह्य (बोधगम्य) होता है कि बुद्धि (understanding) की निश्चितता (निःसन्देहता) और अन्तःकरण (सदसतज्ञान) की तात्कालिक अभिज्ञता (insight) में असाध्य भेद (विरोध) कैसे हो सकता है। आध्यात्मिक (परमार्थिक spiritual) सत्य विषय के सब किरण देखे नहीं जा सकते हैं; थोड़ी किरणें बुद्धि विषयक परदे के उस पार भी

है जो अदृश्य होकर उत्तर देती हैं और अन्धकार में मानो कांपती रहती अर्थात आत्मा के सब विषयों को मनुष्य नहीं जान सकती है, वस्तुओं की केवल आभा भर मालूम होती है पर उनके तत्व को नहीं जानते हैं; इसी वर्ग में सत्यासत्य का ज्ञान भी है, इसमें दृढ़ता से कभी नहीं कह सकते हैं कि अमुक अमुक दशाओं में सत्य न बोलना चाहिए, या अमुक में असत्य कभी भी बोलना उचित नहीं है॥

कार्योत्पादक हेतुओं की सारणी।

पूर्ववर्णित कार्योत्पादक हेतुओं के फल को एक सारणी में लिखना लाभकारी हो सकता है, अतएव आगे वही लिखा है। इस में वे सब उतरते हुए मान (मोल worth) के क्रम में लिखे हुए हैं। मुख्य मुख्य मिश्रित हेतु भी प्रायः (nearly) उचित स्थान में लिखे हैं, पर ये अपने अंशों के अनुसार स्थान परिवर्तन भी कर सकते हैं।

उत्कृष्टतम।

(१) सम्मान की मुख्य मनःकल्पना।

(२) करुणा का मुख्य स्नेह।

(३) मातृपितृसम्बन्धी और संसर्गिक मुख्य स्नेह; —उदारता और कृतज्ञता (अभी प्रायः शुद्ध, उचित, स्थान यही है)।

(४) आश्चर्य और प्रशंसा की मुख्य मनःकल्पना।

(५) गौण मनःकल्पना;—विद्यानुराग।

(६) कारणिक शक्ति;—पराक्रमानुराग, या स्वतंत्रतानुराग।

(७) मुख्य मनोविकार;—स्वाभाविक घृणा, भय क्रोध।

(८) गौण स्नेह (दया के भावों को रसिकता के साथ सन्तुष्ट करना)।

(८) धन प्रेम (क्षुधा और सम्भोगेच्छा की भावना से निकला हुआ)।

(१०) मुख्य प्राणिमात्र सम्बन्धी प्रवृत्ति;—स्वच्छन्द अंगविक्षेप (इच्छाविहीन)

(११) मुख्य इन्द्रिय सम्बन्धी प्रवृत्ति;—विश्रामभिलाषा और विषयाभिलाष (व्यसनसुखाभिलाष)

(१२) गौण मनोविकार;—निन्दकता (और द्वेष); प्रतिहिंसाशीलता, सन्देहशीलता।

निकृष्टतम।

इन चित्तसंस्कारों का व्यवहार विषयक मान।

ऊपर वाली सारणी यह देखलाती है कि दो विरोधी चित्त संस्कारों के एकही समय चित्त में उपस्थित होने पर कर्तव्या-कर्तव्यविचारानुगामी मनुष्यों का क्या कर्तव्य है; पर मनुष्य के समय (सम्पूर्ण, अखंड) जीवन के ध्यान से कार्योत्पादक हेतुओं का सापेक्ष मान (मोल) नहीं बतलाती है। इसको निश्चय करने के लिये इन हेतुओं के गुण के अतिरिक्त 'पौन: पुन्य घटना' (frequency) की भी गिनती करनी चाहिए। उच्च चित्तसंस्कारों के उपजने का प्राय कमही अवसर मिलता है; निकृष्ट चित्त-संस्कारों से प्राय:जीवन भरा रहता है। जैसे, 'विश्राम और विलास के अनुराग' को रोकने के लिये जितना बार बार 'धन-प्रेम' आता है उतना बुद्धि विषयक चित्तसंस्कार 'आश्चर्य' नहीं आते; और 'क्रोध' जितना बार बार अपवाद (निन्दा) के डर से (प्रशंसानुराग) से पराजित होता है उतना उदार स्नेह से नहीं गलता, इससे, बहुत से मनुष्यों में जो अपने स्वभाव ऊपर की ओर बढ़ा रहे हैं कोई न कोई मध्यवर्ती चित्त संस्कार प्रधान पद ग्रहण करता है; और जो असभ्यता से सभ्यता पर रहे हैं उनके इतिहास में उच्च चि- कार्य बहुत कम मिलता है।

अनुकूल रखने से काम नहीं चल सकता है; चाहे कहीं जांय इम लोगों के शारीरक बहुत से विषय सदा संग ही रहेंगे; अपने प्रकृति, मनोविकार, स्नेह, से भागने का बाहरी यत्न करना यथेष्ट नहीं हो सकता है। मन और हृदय को पहिले ही से दूसरी ओर लगाने ही से इनको रोक सकते हैं, निर्बल कर सकते हैं, और आज्ञाकारी बना सकते हैं। कोई नए ही चित्त-संस्कार में के परमोत्साह (उग्रता) से उपस्थि चित्तसंस्कार के कोलाहल को चुप कर सकते हैं। यद्यपि अपने लिये कोई अच्छा काम या व्यापार चुने कि जिस में बुरी इच्छाओं की आवश्यकता न पड़ती हो तौ भी परीक्षा से देखा जाता है कि उसका स्वभाव (chara ter) उस उच्चपद को न पहुंचेगा कि जहां उसे होना चाहिए। यद्यपि संसार के जंजाल से अलग होने के लिये कोई किसी मठ के पुजारी का काम करे पर उसके बुरे चित्तसंस्कार भी उसके साथ ही रहेंगे, वे केवल मानसिक रीति से दमन करने से उसको दुख न देंगे। उसका अच्छा काम केवल नामही भर को रह जायगा। आप कह सकते हैं कि †आवश्यकता (या प्रयोजन) स्वच्छन्दता (free-will) की सर्वोत्तम पाठशाला है पर यह आवश्यकता वास्तविक होनी चाहिये और न कि अपने से अपने ऊपर रक्खी हुई; और नहीं तो धोखे और फंदे में हम लोग पड़ जायंगे।

अब यह भी ध्यान में रखना होगा कि मनुष्य को अपने व्यापार या विद्याभ्यास में इतना डूब न जाना चाहिए कि जिससे उस चित्तसंस्कारों के स्वच्छन्द सचरण का अवसर न मिल सके और उनसे कथित कर्त्तव्यकर्मों के पूरा करने का समय न मिल सके। ऐसा न करने से वह मानुषी और ईश्वरीय सम्बन्धों के स्वत्व को हटाकर (या मानकर) अपने आप दोषभागी होगा। ईश्वर ने जिस अवस्था में जिसको रख दिया है उसको

† "Necessity is the best school of free will."

उसी को अंगीकार करके उसकी पूंजी को इच्छापूर्वक सदसद्ज्ञान युक्त काम में लाना चाहिये; इससे उसका स्वभाव अर्द्ध-रचित और पङ्गु न रह जायगा (पर निर्दोष हो सकता है) ॥

निगमन ।

अब सत और असत्, भले और बुरे, उचित और अनुचित काम का ठीक (या यथार्थ) लक्षण सुनिए । वह प्रत्येक कार्य 'उचित' कहलाता है जो कि निकृष्ट कार्योत्पादक हेतु के आछत (या विद्यमानता में), किसी उत्कृष्ट का अनुसरण करता है; वह प्रत्येक कार्य 'अनुचित' है जो, किसी उत्कृष्ट कार्योत्पादक हेतु के आछत (या विद्यमानता में), किसी निकृष्ट का अनुसरण करता है " जैसे, भय या किसी के स्नेह के कारण झूठ बोलने से सत्यशीलता के सम्मान के कारण सच बोलकर कारागार भी जाना 'उचित' है, अच्छा है क्योंकि सत्यशीलता भय और स्नेह से ऊपर है। दया करके दुखियों के दुख को धन और परिश्रम से छोड़ाना 'भला' काम है, क्योंकि दया वित्तानुराग से उत्कृष्ट है। कोई वणिक यदि किसी दूसरे नामी वणिक के नाम से छल करके अपनी वस्तु बेचे तो उसका काम 'बुरा' (अनुचित) कहा जायगा, क्योंकि उसने उत्तम विश्वास (ईमानदारी) और सत्यशीलता के सम्मान को त्याग कर धन प्रेम का अनुसरण किया जो उनसे निकृष्ट है।

इस लक्षण में यह विशेष गुण है कि जिन शब्दों का अर्थ यह प्रकाश करना चाहता है उनको जब मनुष्य प्रयोग करते हैं तब उस समय उनके मन में जो बीतता है उसको यह सरल रीति से दिखलाता है, कहता है । कर्तव्याकर्तव्य प्रश्नों को निश्चय करने के लिये इस लक्षण को व्यवहार में लाने में बार बार (या बहुधा) कठिनता उठेगी, क्योंकि इन प्रश्नों के नियम (conditions) इतने संकरीकृत (complex) रहते हैं और नीति के अतिरिक्त (immoral) दूसरे विषयों के संग इतना

मिले रहते हैं, कि उनका ठीक ठीक निर्धारण करना सबही गुणावगुणनिर्णयपरिमाण (criterion) के बाहर है।

इस विषय को समाप्त कर देने के पहिले एक बात और निश्चय करलेनी उचित है। आप पूछ सकते हैं कि 'कर्तव्याकर्तव्य विचार' में सुखदायक और दुखदायक फलों को गिनने का क्या कोई स्थान ही नहीं है? हां अवश्य है; दो प्रकार से इसको गिन सकते हैं। पहिला एक या दूसरे कार्योत्पादक हेतु को बढ़कर समझने में कुछ थोड़ी या बहुत गिनती होती ही है, क्योंकि ज्यों ज्यों एक से दूसरा हेतु अधिक आत्म-प्राप्त रहता है उतनाही वह अपना फल सोचता है, और इस फल का सोचना उस कार्योत्पदक हेतु के विचार के अन्तर्गत है। दूसरा, जब एक कार्योत्पादक हेतु को औरों को त्याग कर चुन लिया तब तक भी कभी कभी प्रश्न निश्चित नहीं होता, क्योंकि बाहरी दत्त नियमों के अनुसार वही एकही हेतु कई ढब से पूरा हो सकता है, जैसे कि वही 'परोपकार' जो एक अनर्थ में मूर्खता हो जाता है और पूरा नहीं होने पाता, दूसरे में बुद्धिमानता होता है और अपना अभिलाष पूरा करता है। कार्योत्पादक हेतु के काम को पूरा करने के लिये उपाय (means) का चुनना केवल फलों को विचारने से होगा। यह नियम सदसदाचारसम्बन्धी नहीं है पर बुद्धिसम्बन्धी है; क्योंकि इसके प्रयोग में यदि कोई भूल करे, तो यह केवल उसकी भूल (या भ्रम) ही कहलावेगी, पर वह निन्दा का यथोचित (या योग्य) पात्र न होगा। अतएव सबही कर्त्तव्याकर्तव्य विचार विषयक प्रश्नों के विचारने में क्रमश: (या यथानुक्रम) दो भिन्न भिन्न (या न्यारे २) नियमों का अवलम्बन करना होता है, अर्थात् (१) 'आदिकारणों का नियम' जो 'उचित' का निश्चय करने के लिये कर्तव्याकर्तव्यनिर्णयपरिमाण देता है; और तब (२) 'फलों का नियम', जो इसकी बुद्धिमानता को निश्चय करने के

लिये बुद्धिमानतानिर्णयपरिमाण देता है। इन में पहला 'स्वभाव' (Character) को विचारने के लिये यथेष्ट है, पर 'आचरण' (चलन व्यवहार, conduct) को विचारने के लिये पिछले की भी आवश्यकता है।